॥ अर्हम् ॥

आत्मतिलक ग्रन्थसोसायटी, पुस्तक न २७

महावीर शासन



लेखक—

श्रीमान् वल्लभविजयजी महाराजके शिष्यरत्न
पन्यास श्रीललित विजयजीमहाराज



मारवाड के सादडी शहर-निवासी शा सहसमल पुनमचद और
शा दल्लीचद मेघाजी, तथा मुडारागाव निवासी
शा चैनमल गगाराम प्रदत्त द्रव्य सहायसे

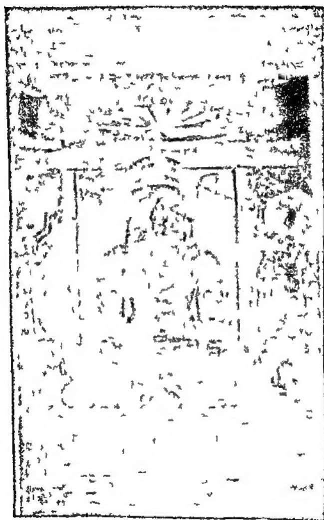
प्रकाशक—

आत्मतिलक ग्रथसोसायटी
ठि. भारत जैन विद्यालय, पूना सीटी



वीर स २४४८]   मूल्य छ आना   [विक्रम स १९७८

लक्ष्मण भाऊराव कोकाटे यांनीं पुणें पेठ सदाशिव
घ. नं. ३०० येथें आपल्या 'हनुमान'
छापखान्यांत छापिलें



हस्ति तुण्डी तीर्थस्थ भगवन्मूर्ति ।

॥ श्री ॥

महावीरदेव

मेरे ख्यालसे वीरप्रभु के चरित के कहने के पूर्व इस बात का परामर्श करना ठीक होगा कि महावीर देव के पूर्व भारतवर्ष की दशा कैसी थी। आजसे असंख्य वर्ष पहले नवम और दशम तीर्थंकर देव का मध्यसमय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहासमें कलङ्करूप था।

उस समय श्रीआदिदेव ऋषभनाथ स्वामी का स्थापन की हुई और तत्पश्चात् हुए हुए अजितनाथादि तीर्थंकरों की परिपुष्ट की हुई–धार्मिक मर्यादा लुप्त होगई थी। भरतचक्री द्वारा निर्मित आर्यवेदों की शिक्षा का ह्रास ही नहीं बल्कि अभाव ही होगया था।

जिस भारतभूमिमें करुणारूप निम्नगा का विमल प्रवाह असंख्य वर्षोंसे चला आ रहा था, वहां उस समय दुर्वासनाओं की धूली उड रही थी।

जिस पवित्र निर्वाणजननी क्रिया को अनन्तज्ञानियों ने स्थापन किया था, उस का स्थान आडम्बरों से भरी हुई पुरोहितों (याज्ञिकों) की शिक्षाओं ने ले लिया था, अतः वह उत्तम क्रिया पैशाचिकरूपको धारण किये चली जाती थी। वेदवेत्ता पण्डितजन भी वेदऋचाओंका अर्थ भूलते जा रहे थे।

सर्व साधारण और श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण–पण्डित–वेदशास्त्राभ्यासी बाह्याडम्बरों में और स्वर्गसुखों के प्राप्त करने की लालसाओं में मुग्ध हुए पड़े थे।

उस वक्त भारतवर्ष का जीवनप्रवाह कर्मकाण्ड–नास्तिकता–अथवा

अज्ञान की तरफ झुक रहा था, ब्राह्मणलोग प्राचीन काल के सुखों का स्वप्न देखते हुए और समय को न विचारते हुए दूसरी जातियों के स्वत्वों को छीन कर अपने अधिकार के बचाने का यत्न कर रहे थे।

परमार्थमार्ग और अध्यात्मविद्या का थोड़े से इने गिने मनुष्य भी जानते हों इसमें भी पूर्ण शंका थी।

॥ प्रवाहमार्ग ॥

आत्मनिरीक्षण–निरहङ्क्रिया–अन्तर्दृष्टि–ज्ञानयोग–अपथग कामनादि विशुद्ध मानव कर्तव्यों को छोड़कर यज्ञपूजा–सभार बुद्धिनिबन्धन पशुवध आहुति प्रदानादि क्रियायें सुलभकर, सुगम और शास्त्रविहित मानी जाती थीं। शास्त्रमार्ग में उदासीनता होती जाती थी, ज्ञानयोग के विपरीत कर्मकाण्ड का यथोचित पालन उनको स्वर्ग का देनेवाला प्रतीत होता था, परन्तु–वह यह नहीं समझते थे कि

दयाधर्मनदीतीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः
तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्तिष्ठन्ति ते चिरम् ॥ १ ॥

सारांश यह कि स्वार्थ और अज्ञान ग्रसित हिंदुओं की दशा उस समय अत्यन्त शोचनीय थी।

जब जनता का हृदय इतना संकुचित हो तब वह कदापि श्रेष्ठतत्वों का अनुसरण नहीं कर सकती। ब्राह्मण–क्षत्रिय और वैश्य कर्मकाण्ड के यज्ञमें झूठे मोहस स्वर्गकामना में लालचा हुए हुए अपने आत्मिक सुखों के पराङ्मुख होकर आत्मा की ही आहुति दे रहे थे। आत्मोन्नति का रास्ता वह भूल बैठे थे। जड़वाद की मधुता और अमयतियों की पूजा चारों तरफ अपना महत्व जमा रही थी। अशिक्षित जनसमाज का अपनी दृष्टि–अपना हृदय ... मन–... अपनी आत्मशक्ति–ब्राह्मणों की

। महा मा ... १९१ फल ग्रमश ... । यहाँ लोगों

का परमधर्म समझा जाता था। " वर्णानां ब्राह्मणो गुरु " इस वाक्य-को ईश्वर वाक्यसमान अटल अबाध्य माना जाता था।

॥ अवतारी का आगमन ॥

उस समय जब कि भारतवर्ष की धार्मिक तथा सामाजिक अवस्था बड़ी ही बुरी थी। सुधारे का बालसूर्य दुर्दशारूपी रात्रीका नाश करने के, लिय उदय हुआ!!!।

क्षत्रियकुण्ड नगर जो कि इक्ष्वाकु राजाओं का राजधानी थी, वहां विक्रम सवत् से ५४२ वर्ष पूर्व सिद्धार्थ राजा की स्त्री त्रिशला की कुक्षि से एक प्रतापी बालक का जन्म हुआ, जिसका भारतवर्षमें ही नहीं बल्कि त्रिलोकी भरमें धर्म की–शुभकर्म की–नीति की–आर्य रीति की–पारमार्थिक सुखों की एव शुभभावनाओं की वृद्धि करनी थी। उस बालक का नाम " वर्धमानकुमार रक्खा गया, परन्तु वह बाल्यावस्था में प्रसन्नता-से परीक्षापूर्वक इन्द्रादि देवताओं के दिये हुए वीर अथवा महावीर नाम से ही अपने जीवन के अन्त तक प्रसिद्ध रहा। महात्मा महावीर बचपनसे ही सूर–वीर–व गंभीर–मातापिता के परम भक्त–प्रजावत्सल–दानशौण्ड और उदार्य थे।

आप तीन ज्ञानयुक्त थे, सर्व विद्यापारगत थे, तथापि मोहवशीभूत होकर आपके मातापिता आपको शास्त्राध्ययन कराने के लिये किसी पण्डित के पास ले गये, आप मनमें अहंकृति न कर सब कुछ देख रहे थे जब यह घटना इन्द्रमहाराजने देखी तो वह मनही मन हसते हुए वहां आये जहां कि वीरकुमार पण्डित के मकान पर आ रहे थे, इन्द्र ने अपने ज्ञान से देखा कि इन इन बातोंका पण्डित को जन्म से संशय है तो, उन्हीं बातों की वीर परमात्मा से पृच्छा की, परमात्मा तो अवधिज्ञानी थे अर्थात् सामान्य मनुष्यों से असंख्य गुणाधिक ज्ञानशक्ति के धारक थे, इन्द्र के पूछने पर बड़ी गंभीरता से उन प्रश्नों का आपने

समाधान किया। पण्डित प्रमति सज्जनों के आश्चर्य का पार नहीं रहा ! ! उस वक्त इन्द्र महाराज ने वीर कुमार की आत्मशक्ति का परिचय दिलाते हुए कहा—

मनुष्यमात्र शिशुरेष विप्र ! । नाशङ्कनीयो भवता स्वचित्ते ।
विश्वत्रयीनायक एव वीरजिनेश्वरो बादमपारदृश्वा ॥ १ ॥

इनका विचार तीव्र मन बाल्यवयस से ही पृथ्वी में वास्तविक लाभों के प्राप्त करनेमें था। दीनात्माओं की दुर्दशा को देख आपके उदारमन पर बड़ा आघात होता था।

उस वक्त के आडम्बरों को देख आप समझते थे कि यह धर्म नहीं किन्तु धर्म के नाम से जनता है, परन्तु सब कार्य देशकाल की अनुकूलता को पाकर ही सुधरते हैं।

आपको संसार का उद्धार करना सदा से प्रिय था, अतः आपने सुख को तिलाञ्जलि देकर जगत को सुधारना तथा शान्ति देनी ठान ली, इस विचार को दृढ़ करके आपने राज्य—स्त्री—परिवार—मालमिल्कत—स्वजनबन्धुओं—का परित्याग कर के—तीन अबज—अठासी क्रोड—अस्सी लाख—सोनइयों का दान देकर संसार को छोड़ दिया।

॥ आत्मभोगपद हास्यसन्ध्या ॥

आपका सिद्धांत था कि—"यद्दाराध्य यत्साध्य, यद्ध्याय यच्च दुर्लभम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ १ ॥" जो चीज आराधना करने योग्य है, जिसकी साधना में तन मन धन की आहुति दी जाती है, जो योगियों के भी ध्यान करने योग्य है, जो चीज संसारमें अति दुर्लभ है वह सब तपोबल से साध्य है, तप निकाचित कर्मकी गति को भी रोक सकता है, परन्तु तपकी शक्तिको कोई नहीं रोक सकता, तपसे आत्मा की अनन्त शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् तपस्या के करने से मनुष्यको केवल ज्ञान केवल दर्शनकी प्राप्ति भी हो सकती है।

मोहरें ३२ स्त्रियों का त्याग कर शालिभद्र उनके शिष्य हुए थे। शालिभद्र के अलावा और भी अनेक राजपुत्र जैसे कि मेघकुमार अभयकुमार आदि, अनेक श्रेष्ठिपुत्र जैसे कि धन्नाकुमार और धन्नाकाकन्दी, प्रभुचरणोंमें दीक्षित हुए थे।

आपके पांचकल्याणक जिन का वर्णन आगे लिखा जायगा उनमें ६४ इन्द्र सहपरिवार हाजिर हुआ करते थे, परन्तु उनपरभी आपको आसक्ति नहीं थी।

आपका मुख्य सिद्धांत था कि संसारक्षेत्रमें सत्यमार्ग खोजनेवालेको अपना जीवन उच्च बनाना चाहिये। उन्होंने अपने शिष्योंको इस कदर उपदेशद्वारा स्थिर किया के मरणान्तकष्ट आनेपर भी वह धर्मसे विचलित नहीं होते थे।

आपके सम्प्रदायमें अनादि स्वभावके अनुसार स्त्री और पुरुष सभी कल्याणमार्गको अखत्यार कर सकते थे। दीक्षित पुरुष—आर्य, मुनि, साधु, तपस्वी, ऋषि, भिक्षुक, निर्ग्रन्थ, अनगार और यति आदिक नामों से पहचाने जाते थे, और दीक्षित स्त्रियां—आर्या, भिक्षुणी, साध्वी, तपस्विनी निर्ग्रन्थी आदि नामों से पहचानी जाती थी। आपके निर्वाण के बाद भी गौतमादि आपके शिष्योंने, उसमें भी खास करके सौधर्म स्वामीने आपकी शिक्षाओं का याथातथ्यरूपसे प्रवाह प्रचलित रक्खा था।

परमात्मा के [illegible] अर्धमागधी भाषामें थे, और १४ पूर्वों की विद्या संस्कृतभाषा में [illegible]

आपके नि[illegible] [illegible] अरसा बीतजानेपर आपके वाक्यों[illegible] होती हुई [illegible] रूपमें स्थापन करनेके लिये मथुरा और वह[illegible] थीं, मथुरा की सभामें मुख्य स्कन्दिला[illegible] पुरकी सभामें मुख्य नियन्ता

लिये मनुष्य को यह याद रखना चाहिये कि जिससे यह पुनरागमनसे सदाके लिये मुक्त होकर निर्वाण का धाम हो जाय, अर्थात् सांसारिक बन्धनाको सदा के लिये छूट जाय। यह फल यज्ञो की सकल क्रियाओं द्वारा अथवा अनाथ पशुओं का निर्दय होकर अग्निमें झोंक देने से कभी नहीं मिल सकता।

हाँ पवित्रतापूर्वक जीवन गुजारने से और वासनाओं के दबाने से हो सकता है।

राजा और किसान, ब्राह्मण और शूद्र, नाथ और अनाथ, अमीर और गरीब, सबही वीर परमात्मा की शिक्षाओं को प्रेम से सुनते थे, आपके ज्ञानकी प्रभा बिजली की तरह मनुष्यों के हृदयपर तत्काल असर कर जाती थी।

जो लोग सिर्फ तमाशाही देखनेको आते थे, आपके अपूर्वज्ञानके चमत्कार से चकित हो जाते थे। श्रद्धालुओं की तरह उन मनुष्योंपर भी आपका प्रभाव पड़ता था।

[॥ परिवार परिचय ॥]

परमात्मा महावीर देवने पहले पहल अपापा नगरी में उपदेश किया था, वहाँ इन्द्रभूति १ अग्निभूति २ वायुभूति ३ वगैरह ११ विद्वान् ब्राह्मण यज्ञ क्रिया के करने के लिये एकत्र हुए थे, उनको प्रभुने सत्यमार्ग समझाकर अपने आद्य शिष्य बनाये। ये सर्व पण्डित ४४०० — शिष्योंके सहित प्रभुके चरणारविन्दोंमें आकर दीक्षित हुए थे।

प्रभु खुद राज्य त्याग कर मुनि हुए थे इसलिये जिन का नाम आगे लिखा जायगा वह चेडा, श्रेणिक, उदायन, वगैरह राजा प्रभुके भक्त बने थे।

परमात्मा के संसारासारतादर्शक उपदेशको सुनकर ९९ क्रोड़ सोना

माहरे ३२ स्त्रियों का त्याग कर शालिभद्र उनके शिष्य हुए थे। शालि-भद्र के अलावा और भी अनेक राजपुत्र जैसे कि मेघकुमार अभय कुमार आदि, अनेक श्रेष्ठिपुत्र जैसे कि धन्नाकुमार और धन्नाकाकन्दी, प्रभुचरणोंमें दीक्षित हुए थे।

आपके पांचकल्याणक जिन का वर्णन आगे लिखा जायगा उनमें ६४ इन्द्र सहपरिवार हाजिर हुआ करते थे, परन्तु उनपरभी आपकी आसक्ति नहीं थी।

आपका मुख्य सिद्धांत था कि संसारक्षेत्रमें सत्यमार्ग खोजनेवालेको अपना जीवन उच्च बनाना चाहिये। उन्होंने अपने शिष्योंका इस कदर उपदेशद्वारा स्थिर किया के मरणान्तकष्ट आनेपर भी वह धर्मसे विचलित नहीं होते थे।

आपके सम्प्रदायमें अनादि स्वभावके अनुसार स्त्री और पुरुष सभी कल्याणमार्गका अंगीकार कर सकते थे। दीक्षित पुरुष—आर्य, मुनि, साधु, तपस्वी, ऋषि, भिक्षुक, निर्ग्रन्थ, अनगार और यति आदिक नामों से पहचाने जाते थे, और दीक्षित स्त्रियां—आर्या, भिक्षुणी, साध्वी, तपस्विनी निर्ग्रन्थी आदि नामों से पहचानी जाती थी। आपके निर्वाण के बाद भी गौतमादि आपके शिष्योंने, उसमें भी खास करके सौधर्म स्वामीने आपकी शिक्षाओं का याथातथ्यरूपसे प्रवाह प्रचलित रक्खा था।

परमात्मा के आगम अर्धमागधी भाषामें थे, और १४ पूर्वों की विद्या संस्कृतभाषा में थी।

आपके निर्वाण के बाद कितना ही अरसा बीतजानेपर आपके वाक्यों की होती हुइ छिन्नभिन्न दशाको अच्छे रूपमें स्थापन करनेके लिये मथुरा नगरीमें और वल्लभीमें सभाएँ हुइ थीं, मथुरा की सभामें मुख्य नियामक स्कन्दिलाचार्य थे, और वल्लभीपुरकी सभामें मुख्य नियन्ता देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण थे।

आपके शासन की इच्छा मगाति नरदान और कुमारपाल सोल्कान। बहुत उत्तम करता थी।

[प्रासंगिक]

रथ चक्र समान गतिवान इस संसारमें जिस जिस समय धर्म क्रियाओंका ह्रास होता है उस उस समय महात्माओं के पुण्य प्रबन्धसे संसार में उत्तम पुरुषोंका जन्म होता है। वह उत्तम जीवात्मा तीर्थंकर तीर्थनाथ विश्वनायक कहे जाते हैं। जिन विशुद्धात्माओं ने इस पदवी पाने के तीन भव पहिले महत्त्व तप आदि बीस अथवा उनमें से कति पय सत्कृत्यों को सतत सेवन करके तीर्थंकर नामकर्म दृढ बांधा हुआ होता है वही महापुरुष इस पदवी को हासिल कर सकते हैं।

ये अवतारी पुरुष जिस जन्मदात्री माता की कुक्षि में गर्भरूपसे स्थित होते हैं, वह माता इन भावी भाग्यशालियों की सूचनारूप चतुर्दश स्वप्नों को देखती है।

तीर्थंकर देव की पांच अवस्थाओं का नाम कल्याणक है, जिन के नाम यह हैं—

(१) च्यवनकल्याणक, २—जन्मकल्याणक ३—दीक्षाकल्याणक, ४—केवलज्ञानकल्याणक, ५—निर्वाणकल्याणक।

इन पांचही कल्याणकों में देवेन्द्रादि असंख्य सुर देवी आकर देवाधिदेव परमात्मा के गुणग्राम भक्ति शुश्रूषा करते हैं।

जन्मकल्याणक के समय सब इन्द्र परमेश्वर को सुमेरु पर्वत पर ले जा कर उन का स्नात्र महोत्सव करते हैं और बड़ी भक्ति से पूजा रचाते हैं। तदनन्तर बड़ा हिफाजत से उन्हें माता के पास रखकर अपने उपकारी के जन्म की खुशियें मनाते अपने २ स्थानों में चले जाते हैं। अन्य भी अनेक प्रसंगों पर देवेन्द्र, महर्द्धिक देव, और देवियें प्रभु के दर्शन और सदुपदेश का लाभ लेने को आया करते हैं।

केवल ज्ञान के बाद जब समवशरण की रचना होती है तब देवेन्द्र चक्रवर्ती सपरिवार उपासना भक्ति में हाजिर होते हैं।

ऐसे धर्म सामर्थ्यशाली दयासिंधु एक एक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालमें चौबीस चौबीस होते हैं। वर्तमान चौबीसीमें—१—श्रीऋषभदेवजी, २—श्रीअजितनाथजी, ३—श्रीसंभवनाथजी, ४—श्रीअभिनन्दनजी, ५—श्रीसुमतिनाथजी, ६—श्रीपद्मप्रभुजी, ७—श्रीसुपार्श्वनाथजी, ८—श्रीचन्द्रप्रभुजी, ९—श्रीसुविधिनाथजी, १०—श्रीशीतलनाथजी, ११—श्रीश्रेयांसनाथजी, १२—श्रीवासुपूज्यजी, १३—श्रीविमलनाथजी, १४—श्रीअनन्तनाथजी १५—श्रीधर्मनाथजी, १६—श्रीशान्तिनाथजी, १७—श्रीकुंथुनाथजी, १८—श्रीअरनाथजी, १९ श्रीमल्लिनाथजी, २०—श्रीमुनिसुव्रतस्वामीजी, २१—श्रीनमिनाथजी, २२—श्रीनेमिनाथजी, २३—श्रीपार्श्वनाथजी, २४—श्रीवर्द्धमानस्वामी।

इनमें से जो अंतिम तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामीजी हैं, उनका प्रसिद्ध नाम है महावीरदेव, वर्तमान कालमें जो शासन चल रहा है, इस के सर्वाधिकारी यही प्रभु हैं। इस देवाधिदेव के एकादश गणधर थे, जिनके नाम—

१—इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) २—अग्निभूति, ३—वायुभूति, ४—व्यक्त, ५—सुधर्म, ६—मण्डित, ७—मौर्यपुत्र, ८—अकंपित, ९—अचलभ्राता, १०—मेतार्य, ११—प्रभास, यह ११ ही मुनि श्रीमहावीर के मुख्य शिष्य थे। महावीर परमात्मा के निर्वाण के दूसरे ही दिन गौतमस्वामी को केवल ज्ञान पैदा हुआ था। कुछ वर्षों के पीछे सुधर्मा स्वामी को केवल ज्ञान पैदा हुआ था।

इन्द्रभूति (गौतम) और सुधर्मास्वामी के अलावा नव ही गणधर महावीर प्रभु की हयाती में ही मोक्ष चले गये थे। गौतमस्वामी की अपेक्षा भी श्रीसुधर्मस्वामी दीर्घायु थे इस लिये प्रभुने गण

श्रीसुधर्मस्वामीजी को ही सुपुर्द किया था। गौतमस्वामी और शेष सभी गणधर राजगृही नगरी के रहनेवाले चौदह विद्याविशारद ब्राह्मण थे।

[॥ तत्त्वज्ञ-निर्णयी आत्मकथा ॥]

जब श्रीमहावीर परमात्मा को केवल ज्ञान पैदा हुआ उसवक्त वे सब मिलकर नगर के बाहिर यज्ञ कर रहे थे। उसी अवसरमें महावीरको केवल ज्ञान पैदा हुआ था अतः एव महा वीर प्रभुका ज्ञानोत्सव करने के लिये आकाश मार्गसे उतरते हुये देवताओं को देखकर गौतमादि ब्राह्मण और उनके शिष्य पंक्ति के ४४०० ब्राह्मण इस बात की निहायत खुशी मनाने लगे कि हमारे किये इस यज्ञ के प्रभाव से ये सब देवता आ रहे हैं। पर तु ये जब सब यज्ञ मण्डप को छोडकर आगे बढ गये तो सबको संशय हुआ कि ये देवता कहाँ जाते हैं? लोगोंसे पूछा तो मालूम हुआ कि ये सब सर्वज्ञ को वन्दना करने जारहे हैं। यह सुनकर इन्द्रभूति को बडा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—संसार में आज मेरे सर्वज्ञ होने पर भी दूसरा सर्वज्ञ है कि जिसके पास ये सब दौड जारहे हैं? बडे आश्चर्य की घटना तो यह है कि इस यज्ञ परमपवित्र यज्ञमण्डप भी इन्हें नजर नहीं आता!! क्या जाने क्या कारण है कि यज्ञपर इनको अन्तर प्रेम ही नहीं जागता? । अस्तु जैसा वह सर्वज्ञ होगा वैसेही ये देवता भी होंगे। भ्रमर तो सुगंधित फूलोंपर और कौओंको निम्बकी निंबोलियों परही प्रेम हुआ करता है।

परमात्माके दर्शन कर वापिस लौटते हुए लोगों को इन्द्रभूति ने कुछ हंसकर पूछा क्यों भाई! सर्वज्ञ देखा? कैसा है? जवाबमें उन्हों ने सिर हिलाकर कहा—क्या पूछते हो? तीन लोक के सर्व जीवात्मा गिनती करने लगें, आयुष्की समाप्ति न हो! गणित को परार्धसे भी आगे बढाया जाय तो भी उस ज्ञानसागर के गुणों की गणना करना असम्भव और अशक्य है। अरे आश्चर्य! महदाश्चर्य!! वाहरे पुन्य!! किसीने

मूर्ख मनुष्यों को ठगा, किसीने स्त्रियों को, किसीने बाल और गोपालों को परन्तु इन ने तो चतुर मनुष्यों को, और विबुध कहलाते हुये देवताओं को भी जालमें फसाया ! अच्छा खद्योत और चन्द्र का प्रकाश सूर्यके आगे कितनी देर ठहरेगा ? । अभी आता हूं, तेरे साथ विवाद करके तुझे परास्त करता हूं ।

एक म्यान में दो तलवारें, एक ही गुफामें दो सिंह, या एक गगन में दो सूर्य, कभी किसीने देख या सुने हैं ? ।

इस प्रकार विविध आडम्बरों को दिखाता हुआ इन्द्रभूति अपने पाचसो ५०० शिष्यों को साथ लेकर प्रभुके पास आया । प्रभु अपने ज्ञानसे उसका नाम गोत्र और गुप्तरहा हुआ उसके मनका संशय जो कि उसने सर्वज्ञत्व की क्षति के भयसे किसी के पास आज तक जाहिर नहीं किया था उसे भी जानते हैं ।

गौतम आकर जब सम्मुख खड़ा रहा तब " हे गौतम ! इन्द्रभूते स्व सुखेन समागतासि ? " इस तरह प्रभु उसको बुलाते हैं । महावीर के मुखसे अपने नाम और गोत्र का सुनकर गौतम ने विचार किया, अरे ! यह तो मेरे नाम गोत्र को भी जानता है । अथवा जगद्विख्यात मेरे नाम को कौन नहीं जानता ? अगर यह मेरे मनोगत सन्देह को कहे तो जानूं कि यह सच्चा सर्वज्ञ है ।

गौतम के मनोगत भाव को जानकर त्रिकालविद् महावीर देव कहते हैं हे विद्वन् ! तेरे मनमें " जीव है या नहीं ? " इस बात का संशय है और उसका कारण वेदमें कही हुई —

" विज्ञान धन एव एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति "

और—" स वै अयं आत्मा ज्ञानमय " इत्यादि । तथा—" द द द " अर्थात्— दमो दानं दया इति दकारत्रयं यो जानाति स जीव ॥

ये दो ऋचाएँ हैं। पहिली ऋचासे जीव का सर्वथा अभाव प्रतीत होता है, और दूसरीसे जीव की सिद्धि भी हो सकती है। साधक और बाधक प्रमाणों के मिलनेसे तुम्हारा मन संशयदोलित हो रहा है, परन्तु इन ऋचाओं का यथार्थ अर्थ तुम्हारे ख्यालमें नहीं आया, सुनो हम तुमसे इनका परमार्थ समझाते हैं।

"विज्ञानघन" यह आत्मा का नाम है। जब आत्मा घटपटादि किसी भी चीज को देखती है तब वह उपयोग रूप आत्मा इन्द्रियगोचर पदार्थों को देखती सुनती है या किसी भी तरहसे अनुभव गोचर करती है, उसवक्त उन अनुभवगोचर पदार्थोंसे ही उस उस उपयोगरूप से पैदा होती है और उन पदार्थों के नष्ट होजानेपर या दूर होजानेपर वह उसरूप अर्थात् घटपटादि पदार्थ परिणत आत्मा उस उस उपयोग से हट जाती है, उस हालत को लक्ष्य कर कहते हैं कि उन उन घट पटादि भूतों से अर्थात् भूतविकारों से उपयोगरूप वह आत्मा उत्पन्न होता है, उनके विनाश होने पर उनमेंही लय होजाती है।

"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" पहिले जो घटपटादि उपयोगात्मक संज्ञा थी, फिर वह कायम नहीं रहती, उन पदार्थों से हटकर आत्मा अन्यान्य जिन२ पदार्थों में उपयोगरूप से परिणत होती है उस उस पदार्थ के रूपसे नई संज्ञा कायम होती है, इस समाधान से और प्रभुके जगद्दर्शन साम्राज्य से देखकर इन्द्रभूति (गौतम) ने दीक्षा स्वीकार करली। इन्द्रभूति वीर परमात्माके प्रथम शिष्य हुए। इस बात को सुनकर अग्निभूति, वायुभूति आदि सब पण्डित अपने अपने परिवार को लेकर आये। मनोगत संशयों को निवृत्त करके उन सबने जगद्गुरु महावीरदेव के पास संयम अख्त्यार किया। प्रभुने इन एकादश मुख्य पण्डितों को अपने गणधर कायम किये। और गच्छ का मालिक सुधर्मा स्वामीको ही बनाया।

गौतमस्वामी प्रभुके निर्वाण के दूसरे ही दिन केवली होकर १२वर्षतक

ससारमें अनेक उपकारों का करते हुय भूमडल्पर विचरत रहे और प्रभुके निवाण के २० वष पीछे सिद्धि गति का प्राप्त हुए। सुधम स्वामी क पाटपर श्रीजम्बूस्वामी बैठे। बस जम्बूस्वामी महाराज ही अन्तिम केवली कहे गये हैं।

जम्बूस्वामी का इतिहास परिशिष्ट पर्व भाग पहिले स और साहित्य सशोधक भाग तीसरे से जान सकत हैं।

पहले इस बात का सामान्यतया उल्लेख हो चुका है कि जैनधम के प्रवतक हरएक तीर्थंकर की पांच अवस्था विशेष का जैन पारिभाषिक शब्दोंमें कल्याणक कहते है। वीर परमात्मा का जीवात्मा नयसार क भवमें सम्यक्त्व से वासित होकर २६ भव अन्यान्य गतियोंमें भोगकर सत्ताईसवें भवमें त्रिशला राणी की कुक्षिमें आकर पैदा हुय, इतने वृत्तान्त-का नाम च्यवनकल्याणक है। अनादि काल के अवासित प्राणीन पहिल महिल मुनि का दर्शन करके किस उच्च आशय से उनका सत्कार किया है किस धर्मनीति से वह उनस बर्ताव करता है, उसका अनुभव करने वालों के लिये हमारे परमोपकारी गुरुमहाराज की बनाई "महावीर पचकल्याणक" पूजा की पहिली ढाल यहां लिखी जाती है—

(दोहा)

जब स समकित पाइये, तब स गणना आय।
वीरजीव नयसार के, भव मे समकित पाय ॥ १ ॥

(सारग-कहरवा दम दम दे क चाल)

समकित आतम गुण प्रगटाना, । टेक ।
समकित मूल धरम तरु दीपे ।
विन समकित न चरण नहि आना ॥ स० १ ॥
अपर विदेह नृप आदेशे ।
काष्ठ लेन नयसार वा जाना ॥ स० २ ॥

भोजन समय में निरखत अतिथि
पुण्ययोग युग मुनि हुआ आना ॥ स० ३ ॥
धन्य भाग्य मुझ मन में चिंती ।
निरवद्य आहार पानी दिया दाना ॥ स० ४ ॥
आगम ज्ञानी मुनि देशना दीनी,
पाया समकित लाभ अमाना ॥ स० ५ ॥
द्रव्य मारग बतलाया मुनि का ।
भाव मारग किया आप पिछाना ॥ स० ६ ॥
आतम लक्ष्मी कारण समकित
हर्ष धरी वल्लभ मन माना ॥ स० ७ ॥

जिनेश्वर देव का माता की कुक्षिसे जन्मना, संसार भर के जीवों को उस समय आह्लादित होना, इन्द्रासनों के चलायमान होनेपर असंख्य देव देवियों का राजा सिद्धार्थ के घर जाना, लोकाचार उस बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाना, और जन्मोत्सव करना, पीछे आकर बालकको माता के पास रखना, मन्दार प्रभृति के पुष्पों से प्रभुकी अर्चा करना, धनधान्य से प्रभु के माता पिताओं के निवासगृह की पूर्तिकरना, माता पिता कृतजन्मो त्सव, नामस्थापना, पाठनविधि का उपक्रम तथा युवावस्था में माता पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् अपने बड़े भाई नन्दावर्धन से पूछकर दीक्षा लेने के पहिले पहिल का महावीरका जितना वृत्तान्त देखो उसको जन्मकल्याणक के अन्दर ही समझना चाहिये । जन्मकल्याणक की शुरू आत नीचे की ढाल से होती है ।

(दोहा)

जन्म समय जिनदेव के, जगपर सुखिया लोक ।
वायु सुलहरी चले, आनन्द भयउ अशोक ॥ १ ॥
चैत शुक्ल तेरस भली, ऋक्ष उत्तरा जाग ।

मध्यरात्रि जिन जनमिया, पूण पुण्य फल भोग ।। २ ।।
शान्त दिशा सब दीपता, त्रिभुवन हुओ प्रकाश ।
छप्पन दिशि कुमरी मिला, आइ चित्त हुलास ।। ३ ।।

[देश-त्रिताल-लावणी]

जनमे जिनदेव मति-श्रुत अवधि ज्ञानी
पूरण जस पुण्य की अद्भुत प्रगट निशानी ।। ज०
अब थान स छप्पन दिशि कुमरी मिल आवे,
देखी प्रभु झगमग ज्योति अति हर्षावे ।
अधोलोक की आठ संवर्त्तक वायु चलावे,
एकयोजन भूमि अंदर अशुचि उडावे ।
बरसावे आठ ऊर्ध्व लोक कुमरी फूल पानी ।। ज० १ ।।
पूरव दक्षिण पश्चिम उत्तर इम चारे,
क्रम से अठ अठ कुमरी निज काम समारे ।
दर्पण कलशालि पखा चामर धारे,
चउ विदिशि की चउ दीप धरे उजीयारे ।
चउ मध्य रुचक की आवे कुमरी सयानी ।। ज० २ ।।
कदलीघर तीन बनाय विधि से करती,
मर्दन पूरवघर स्नान दक्षिण भरती ।
उत्तर घर रक्षा बन्धन को अनुसरती,
जिन जिन अम्बा नमी भाव पाप को हरती ।
जीवो चिरकाल जिनंद वदे मुख वानी ।। ज० ३ ।।
इम छप्पन दिशि कुमरी प्रभुके गुण गाती,
करके निजकृत्य अनादि सदन निज जाती ।
धन्य देशजन्म हम प्रभुमाके स मातीं,

आतम लक्ष्मी कारण समकित चमकाती ।
हर्षे वल्लभ प्रभु दरस सुख सुख दानी ॥ ज० ४ ॥

नन्दीवर्धन की अनुमति, वरसीदान, पंचमुष्टिलोच, चतुर्थज्ञान की प्राप्ति, साढे बारह वर्ष की अति कठिन तपस्या, विहार और भयंकर परीषह, उपसर्गों की तितिक्षा यावत् केवलज्ञान से पहिले पहिले का जितना वर्णन है वह सब तीसरे दीक्षाकल्याणक में ही समझना चाहिये । विशेष स्पष्टता के लिये नीचे लिखे पाठ को पढ़ो ।

(दोहा)

जाने निज दीक्षा समय, पिण लोकान्तिक देव ।
कल्पकरी प्रभु बूझवे, करते प्रभुपद सेव ॥ १ ॥
जय जय नन्दा भद्र हे, जगगुरु जगदाधार ।
धर्म तीर्थ निस्तारिये, मोक्षमार्ग सुखकार ॥ २ ॥

(लावणी)

वरसी दान देवे जिन राज महा दानी रे । टेक अचली ॥
अनुकम्पा गुणधार, जन को दारिद्र गार ।
निज हाथ दान प्रह भव्य तह मानी रे ॥ व० १ ॥
एक कोडी आठ लाख, एक दिन दान आख ।
संवत्सर तक इसविधि दान मानी रे ॥ व० २ ॥
वर्ष दोय होए पूर, पूर प्रतिज्ञा में सूरे ।
गृहवास वर्ष तीस रहे प्रभु ज्ञानी रे ॥ व० ३ ॥
नगर सजावे राय, यावे इन्द्र हाजर आय ।
विधि से करावे स्नान इन्द्र इन्द्रानी रे ॥ व० ४ ॥
देव के कलश सार नृप के कलश धारे ।
स्नान नन्दिवर्धन करावे हर्ष आनी रे ॥ व० ५ ॥

वीर प्रभु सज होवे, आतम लक्ष्मी जोवे ।
वल्लभ हर्षमन दीक्षा जिन पानी रे ॥ व० ६ ॥

अनेकानेक प्रकार के दुस्सह कष्टों को समतापूर्वक सहन करके केवलज्ञान का पाना, देव देवेन्द्र, राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार और १२ ही पर्षदाओं का एकत्र होना, धर्मोपदेश द्वारा तीर्थस्थापना का करना, अन्यान्यदेशों में फिर कर अनन्त बहिरात्माओंको अन्तरात्मा बना कर उन के हृदयों में धर्मबीजरा बोना, यावत् निर्वाण के पहिले पहिले के चरितांश का नाम केवलज्ञान कल्याणक है । सुनिये ध्यान दीजिये—

(दोहा) संयम शुद्ध प्रभाव से, तीर्थंकर भगवान ।
दीक्षा समये ऊपजे, मनपर्यव शुभ नाण ॥१॥
विचरे देश विदेश में, कर्म खपावन काज ।
परिषह अरु उपसर्ग को, सहते श्री जिनराज ॥२॥
गौसाला गोवालिया, चंड कोसिया नाग ।
सूलपाणि संगम दिया, सहिया दुःख अथाग ॥३॥
सुदि दशमी वैशाख की, उत्तर फाल्गुन जान ।
शाल वृक्ष नीचे हुओ, निर्मल केवल भान ॥ ४ ॥

(बसंत—होई आनंद बहार)

आज आनन्द अपार रे प्रभु केवल पाया ।
केवल पाया घाती खपाया ॥ आज० अचली ॥
उग्रविहारी जगत में रे, जिनवर जग जयकार रे ॥प्र० १॥
धर्मध्यान धोरी बनी रे, ध्यान कुशल लिया लार रे ॥प्र० २॥
ध्यान ध्येय ध्याता मिली रे, काढे घाती चार रे ॥प्र० ३॥
प्रगटे केवल ज्ञान के रे प्रगटे आतम सार रे ॥ प्र० ४ ॥
आतम लक्ष्मी पामीया रे, वल्लभ हर्ष अपार रे ॥ प्र० ५ ॥

बस तीस वर्ष गृहस्थावस्थाके, साढे बारह वर्ष १५ दिन छद्मस्थावस्थाके,

पद्रह दिन कमती साढे उनतीस केवल अवस्था के कुल ७२ सालका सर्वायु पूर्णकर वीर परमात्मा अपापापुरी में आन हैं। योगनिरोध करनेके पहिले अन्तिम धर्मोपदेश का फरमाते हैं। अन्तिम क्रिया जिसका नाम योगनिरोध है उसके बलसे योगातीत हालत को प्राप्त कर विनश्वर शरीर को त्याग कर प्रभु निर्वाण पधारते हैं। गौतम स्वामीका विलाप, इन्द्र और देवोंका घोर शोक, नन्दीवर्धनका रुदन, प्रभुका अग्निसंस्कार करके इन्द्रोंका नन्दीवर्धन को दिलासा देकर प्रभुकी दाढाओं को लेना, नन्दीश्वरतीर्थकी यात्रा करके देवदेवियों का अपने स्थानों पर जाना, यह सब निर्वाण कल्याणक की क्रिया है।

पहिला कल्याणक आषाढ सुदी ६ दूसरा चैत्र सुदी १३ तीसरा मार्गशीर्षवदी १० चौथा वैशाख सुदी दशमी १० पांचवाँ कार्तिकवदी १५। खुलासा नीचे दर्ज है—

(दोहा)

तीस तीस पर केवली, छद्म अधिक कुछ बार।
पूर्णायु प्रभु वीर का, बहार साठ निरधार ॥ १ ॥
चतुर्मासिक पावन करी, ऊन बय कछु तीस।
निकट समय निर्वाण का, ज्ञानी श्रीजगदीश ॥ २ ॥
पचपन शुभफल के कह, पचपन इतर विचार।
प्रश्न कर छतीस का, बिन पूछ विस्तार ॥ ३ ॥

(कव्वाली)

प्रभु श्रीवीरजिन पूजन, करो नरनारी शुभभाव ॥ अ० ॥
किया उपकार जो जगमें, कथन से पार नहिं आवे।
तजी मनी मान सब अपना, नमन करी नाथ गुण गावे ॥१॥
सहस छत्तीस साधवीयां, सहस चउद साधु गण थावे।
केवली वैक्रिय सत सत सो, वादी सय चार कह लावे ॥ २ ॥

ओही मन पर्यव ज्ञानी, पांचसो पांचसो भावे ।
पूरव चउदधारी शत तीनो, चउदसो साध्वी शिव जावे ॥ ३ ॥
श्रावक एक लाख व्रत धारी, एगुण सठ सहस बतलावे ।
श्राविका लाख तिग सहसा, अठारा सूत्र फरमावे ॥ ४ ॥
प्रभु परिवार परिवारिया, अपापा नगरी दीपावे ।
अमा कार्तिक रिख स्वाति, प्रभु निर्वाण सुख पावे ॥ ५ ॥
आतमलक्ष्मी पति स्वामी, हुए निष्कप उपजावे ।
अटल सपत् प्रभु पामी, वल्लभ मनहर्ष नहीं मावे ॥ ६ ॥

[उच्च जीवात्माओंके उच्च जीवन की उच्च घटनायें]

॥ दया दृष्टि और दीनोद्धार ॥

परमात्मा चारित्र लेकर देशदेशान्तरोंमें विहार कर रहे हैं । उन्होंने देखा कि अमुक विकट अटवीके अमुक स्थलमें "चण्डकौशिक" नामक दृष्टिविष सर्प रहता है । उस क्रूराशयवाले अज्ञानी जीवने आज तक असंख्य निरपराधी जीवोंकी जीवनयात्राको समाप्त कर दिया है । उसकी तीव्र दृष्टिज्वालासे भस्मसात् होकर पक्व फलोंकी नाई पक्षिगण धडा धड नीचे गिर रहे हैं । इस भयसे उस जगहका आकाशमार्ग भी बन्द हो चुका है । असंख्यातीत जीवोंके प्राणोंका शत्रु होकर, वह बिचारा निपट नरकातिथि हो रहा है । यह सोचकर प्रभु उसके उपकारके लिये उसी भनखल आश्रमकी तरफ जहाँ कि वह सर्प रहता था चल पडे । मार्गमें जाते समय ग्वालोंने उनको रोका और संपूर्ण वृत्तान्त उस सर्पका कह सुनाया, और साथमें यह भी कह दिया कि इस मार्गके बदले दूसरा भी मार्ग है जो थोडा बाँका होकर जाता है, आप उधर होकर जाइये जिससे आपको शारीरिक आपत्ति न भोगनी पडे ।

महावीरने ज्ञानद्वारा जान लिया कि यह पामर जीव पूर्वकृत दुष्कृतोंके

प्रभावसे सर्वभक्षी हो रहा है " परोपकार पुण्याय " यह सनातन पथ मुख्य तया हमारे लिये ही है। अन्तमें आप निर्भीकारत्यासे उसी रास्ते होकर* चण्डकौशिकके बिल पर जा खडे हुए। सर्प मनुष्यको आते देखकर क्रुद्ध हुआ और बिल्से बहिर निकल कर सोचने लगा। अरे! जहाँ मेरे भयसे आकाशमार्ग भी बन्द हो रहा है वहाँ यह मनुष्य! से भी मेरे द्वार पर!!

बस कहना ही क्या था? एक तो सर्प और वह भी दृष्टिविष! पहिले तो उसने लाल आँखें करके प्रभुपर आँखोंका जहर छोड़ना शुरू किया। और जब इस क्रियासे थक गया, तब महावीर प्रभुके चरण पर डंक मारा। भगवद्य उस दुःखसे जराभी दुःखी नहीं हुए, जरा नहीं घबराए। सत्य कहा है " कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन किं मन्दरादि शिखरं चलितं कदाचित्?।" परिणाम यह हुआ कि उस उरकन्दोषी महा अपराधी सर्पको परमेश्वरने शान्त किया। जगद्वत्सल प्रभुके प्रभावसे उसे जाति स्मरण ज्ञान हुआ। परमात्माके समक्ष पन्द्रह दिनकी महा तपस्या करके प्रभुके सुधामय उपदेशको सुनकर वहभूर काय सर्प १५ दिन के पश्चात् इस रौद्र शरीरका त्याग कर आठवें देवलोक में पहुँचा

" सिक्त: कृपासुधा वृष्ट्या, दृष्ट्या भगवतोरग।
पक्षान्ते पञ्चता प्राप्य सहस्रारदिवं ययौ॥ १॥ "

(त्रिषष्टिश पु च)

पूज्य—पूजक समाज.

प्रभुकी हयाती में अठारह देशके राजा जैनधर्म के प्रतिपालक थे। श्री महावीर प्रभुके मामा चेटक (चडाराजा) जो कि विशाला नगरीके

* " अवश्य चैव वाधाह इति बुद्धया जगद्गुरु। आत्मपीडा मगणय न्मृजुरे पथा ययौ॥ १॥

मुकुटबद्ध राजा थे, उन्होंने प्रभुके समक्ष गृहस्थाश्रमके योग्य श्रावकके बारह व्रत धारण किये थे। मगध देशके स्वामी श्रेणिकराजा तो आप के परमभक्त ही थे। उनका लड़का कूणिक (अशोकचन्द्र) जो कि बापकी मृत्युके बाद चंपानगरीमें राज्य करने लगा था, बड़ा प्रतापी साम्राज्य-शाली शुद्ध जैनधर्मी राजा था ॥ २ ॥ उज्जैनी का नरेश चण्डप्रद्योत महावीर देव का गाढ भक्त था।

पंजाब के पश्चिम भागमें "वीतभयपत्तन" जिसे आज कल भेरा कहते हैं एक बड़ा आबाद और अकलीम शहर था जहाँ का राजा उदयन शुद्ध श्रावक था। कूणिक (अशोकचन्द्र) का उत्तराधिकारी उदायी राजा जैनधर्ममें बड़ा ही चुस्त था, और महावीर भगवानकी शिक्षाओंको पूर्णप्रेम से पालता था। अन्तमें प्रभुके पास दीक्षा लेकर मोक्षाधिकारी हुआ था। प्रदेशीराजा प्रभु को बड़े जलूस के साथ वन्दन करनेके वास्ते आया था। राजा दशार्णभद्र जहाँ तक गृहस्थाश्रम में रहा पूर्णप्रेम से प्रभुसेवा में तत्पर रहा, और अन्तमें जगद्गुरु महावीर परमात्माकी दीक्षा लेकर कल्याणभाजन हुआ। भगवद्वीर निर्वाण समय अपापा नगरी में किसी कारणवशात् अठारह राजा एकत्र हुए थे, ये सब जैन धर्मी थे।

॥ महर्धिक श्रावक ॥

(१) वाणिज्य ग्रामका रहस आनन्द नामा जमींनदार आपका श्रावक था, इस के पास बारह करोड़ सुवर्ण मुहरें और चालीस हजार गायें थीं। यह व्यापार कर्ममें बड़ा प्रवीण था। इसके पाँचसौ जल-यान् (जहाज) समुद्रमार्गसे भ्रमण किया करते थे। और पाँचसौ गाड़ियें लकड़ी घास वगैरह के लिये रहती थीं।

(२) कामदेव श्रावक जो कि चंपानगरीका रहनेवाला था इसके यहाँ १८ क्रोड़ अशरफियाँ और ६० हजार गायें थीं।

(३) बनारस का चुल्लनीपिता नामक श्रावक भी १२ व्रतधारी था, इस के पास भी २४ क्रोड सुवर्ण मोहरें और ८० हजार गायें थीं।

(४) सुरान्द्र श्रावक भी बनारस का ही रहनेवाला था। उसके यहाँ १२ क्रोड सुवर्ण मोहरें और २६००० गायें थीं।

(५) चुल्लशतक श्रावक आलभिका नगरी का एक प्रसिद्ध व्यापारी था उसके पास १२ क्रोड सुवर्ण मोहरोंकी और ६००० गौओंकी सपत्ति थी।

(६) कुण्डकोलिक श्रावक कांपिल्यपुर का रहने वाला था। उसकी हैसियत १९ क्रोड सुवर्णमोहरोंकी और १००० गौओं-की थी।

(७) पोलासपुर नगर का रहनेवाला सद्दालपुत्र (कुंभार) प्रमुख श्रावक था, तीन क्रोड अशरफियें और ५०० मट्टीके बरतनोंकी दुकानें इसकी दौलत थी।

(८) आठवें श्रावक का नाम महाशतक था। यह राजगृही का रहीस था, इसके पास २१ क्रोडसोनैयें और ८००० गायें थीं। इस श्रावक की १३ स्त्रियाँ थीं। प्रधान स्त्रीका नाम रवती था। यह एक वडे दौलतमंदकी लडकी थी। इसको इसके बापकी तरफसे ८ क्रोड सोनैये और ८००० गायें दहेजमें मिली थीं।

(९) एस ही सावत्थीका रह ग नान्दिप्रिय श्रावक भी बडा खानदान और दौलतमन्द था।

(१०) सावत्थीका रहनेवाला तेतलीपिता भी १२ क्रोड सोनैयों की और ४००० गौओं की हैसियत मोगता था।

इसके अलावा धन्ना, शालिभद्र, धन्नाकाकदी वगैरह अवजोपति साहूकार महावीर प्रमुख सेवक थे। जंबुकुमारने ९९ कोटि सोनैय छोड कर ५२९ स्त्रीपुरुषोंके साथ प्रभुके शिष्य सुधर्मा स्वामीके पास दीक्षा ली थी।

॥ परमात्माका संदेश ॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥ १ ॥

संसार में प्राणिमात्र को सुख इष्ट है, और दुःख अनिष्ट है । विकलेन्द्रियसे लेकर इन्द्रपर्यंत सब प्राणी सुख के अभिलाषी हैं, परन्तु सुख की प्राप्तिके साधनों को कैसे संपादन करना, इस बात का समझना जरा कठिन है । कितनेक निचारे मोहमूढ पुद्‌गलानन्दी जीव अपने सुख के लिये दूसरे को दुखमें डालने के उपाय करते हैं । कोई एक धनके नष्ट होनेपर अन्याय चोरी आदि अनाचार करते हैं । कितने ही प्रथम झूठ बोल कर जब किसी प्रसंग में खूब तंग हो जाते हैं तो फरेब कर मुक्त होना चाहते हैं । निःपापको सपाप और पापीको निष्कलङ्क बनानेका उद्यम करने में अपना कौशल प्रकट करते हैं । अपने माथे पर चढ आये हुए आपत्तिके बादल जब दूसरे किसी पर बरस जाते हैं तो धर्महीन अज्ञ खुशी मनाते फूले नहीं समाते हैं । परन्तु वे यह नहीं समझते कि—

अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
न क्षीयते कृतं कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥ १ ॥

(धार्मिक) राग द्वेष के दृढ आवेश में आकर धर्म से सर्वथा निरपेक्ष होकर यदि पापाचरण किया जावे तो उस कर्मका परमाणु मात्रसे मुक्त होकर भी छूटना कठिन हो जाता है । अपने दोषको न देखकर सिर्फ दूसरे जीवात्माको संताप देकर और आप खुद अकृत्यसे निवृत्त न होकर अपने अमूल्य जीवनको व्यर्थ करने में भी मनुष्य पीछे नहीं हटता ! । ऐसी दशामें उसे उपदेश का देना, सन्मार्गका बतलाना व्यर्थ है । इस विषयमें आचार्य श्री हरिभद्र सूरिजीका एक सूत्र मनन

करने योग्य है उन्होंने योग्य मनुष्य को उपदेश दनका अधिकार वर्णन करते समय कह दिया है कि—

" ये वैनया विनयनिपुर्णस्ते नियन्ते निनीता,
नावैनेया विनयनिपुणे नाक्यते सन्नितुम ।
दाहान्भिय समलममल स्यात्सुवर्ण सुवर्ण,
नायस्पिण्डो भवति कनक छदवाहघर्मेण ॥ १ ॥'

अर्थ —जो मनुष्य स्वभावसे ही विनयनिपुण होगा उसे ही उपदेश विनय ऊचे दर्जेपर चढा सकता है । जो स्वभावसे ही कठोर परिणामी है, छला है, जिदावपा है, परवचक है, उसे कोटि उपदेश भी मार्गगामी नहीं कर सकत ।

इस बात पर आचार्य एक मनोरम दृष्टान्त देते हैं कि जो सुवर्ण कुछ अन्य कुधातुओंसे मिश्रित है परन्तु है जातिका सुवर्ण उसी को तजाव वगैरहके योग से शुद्ध कुन्दन बनाया जा सकता है । परन्तु जो है ही लोहका टुकडा उसको छेद–दाह–ताडन, तापनादि अनेक उपाय कर के भी कोई सुवर्ण नहीं बना सकता । कहावत है कि " सौमन सावन मलके धोवे गर्दभ गाय न थाय "

॥ ससार स्वरूप ॥

ध्यान हुताशन मे अरि ईंधन, झोंक दियौ रिपु–रोक निवारी ।
शोक हर्यो भविलोकन को वर, केवलज्ञान मयूख उघारी ॥
लोक अलोक विलोक भये शिव, जन्म जरा मृत पंक पखारी ।
सिद्धन थोक बसे शिव लोक, तिन्हे पग धोक त्रिकाल हमारी॥१॥

किसी भी राष्ट्र समाज या धर्मकी उन्नति का प्रधान कारण तद्विषयक शिक्षा ही है । सुशिक्षितों को ही अपने अपने देश समाज धर्मकी यथार्थ परिस्थितिका मान हो सकता है । वही उसका उपाय सोच सकते

है। ऐसे सुशिक्षित मनुष्य जिस जातिमें जितने ज्यादा होंगे उतना ही अपना-अपने राष्ट्रका समाज का या कुटुम्बका मगन कर सकेंगे।

वर्तमान समयमें देखा जापान जो एशिया के हर्ष का वर्द्धक हो रहा है। उसका कारण आज शिक्षाप्रणाली के सिवाय अन्य क्या माना जा सकता है? जैसे सूय तुम्हारे सामने चक्कर लगाता हुआ दृष्टिगोचर होता है ठीक उसी प्रकारसे सारा ससार नीचेसे ऊपर ऊपरसे नीच उदयसे अस्त अस्तसे उदय इन पयाय धर्मों का वदन करता चला जा रहा है।

ससार का कोई पदार्थ स्थिर नहीं सृष्टि क्रम यह बता रहा है। समय यह कह रहा है कि वह एक न एक दिन नीचे आयगा, गिरेगा, उसकी जरूर अवनति होगी जो ऊपर गया है, इस विकराल कालकी चालसे बचे हैं तो परमात्मा बचे हैं, बाकी सब ससारी जीवोंका चाहे वह इन्द्रसे भी ऊपरक अहमिन्द्र क्यों न हों? एक रास्ता है।

ससार और ससारी जीवात्माका ऊपर आना नीचे आने ही के लिये है। जैसे उन्नति का अन्त अवनति पर ठहरा हुआ है वैसे ही अवनति के बाद अवश्य उन्नति है।

इस नियमका उल्लघन वह कर सकता है जो ससारसे मुक्त होगया है, वरन् ससार उसीका नाम है जो कोई इस नियम का उल्लघन न कर सकता हो। कवियों की मान्यता है कि जो जल समुद्र से उठकर भाप होकर बादल बन कर अहकार से मस्त हुआ हमारे ऊपर आकाश में घूम रहा है, इतना ही नहीं, बल्कि-गर्जना और तर्जना कर रहा है, कौन नहीं जानता कि वह एक न एक दिन नीचे आवेगा, और वहीं जायगा जहां से आया था।

बस यह ससार ही नहीं किंतु ससार चक्र भी है। आपने अब इसका मतलब अच्छी तरह समझ लिया होगा, अधिक कहना श्रोताओं की बुद्धि की अवज्ञा करना है। कवि कालिदासने लिखा है—

" यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरौषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां,
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥१॥"

प्रिय बन्धुओ ! जो गिरा हुआ है उसकी अवश्य उन्नति होगी, मान लो कलियुग इसी लिये आया है कि सतयुग का मार्ग साफ और निष्कण्टक बनजाय ।

समय की परिस्थिति ।

देखो कालकी गति कैसी विचित्र दीख पड़ती है, जब यहां दिन होता है तो अमेरिका में रात होती है । ठीक इसी प्रकार से जब उन्नति का सितारा भारत वषपर चमकता था तो अमेरिका वगैरह का कोई नाम भी नहीं जानता था ।

शासन नायक वीर प्रभु के निर्वाणके कुछ वर्ष पीछे अशोक राजा का पौत्र सम्प्रति नरेश हुआ कि जिसने अपने अखण्डशासन के बलसे अमेरिका प्रभृति देशों में भी "स्याद्वादवर्शन" का प्रचार किया । उन उन देशों में अपने सुशिक्षित उपदेशकों को भेज कर जैन धर्मके उन गूढ़ तत्वों को समझाया जो उन के लिये अश्रुत पूर्व थे । आज भी उन देशों में से निकलती हुई तीर्थंकर देवों की प्रतिमायें इस सत्य घटना की बराबर सत्यरूप से गवाही दे रहीं हैं ।

विद्या और दान

इस कथन का सारांश यही निकला कि संसार का (संसार वर्तिपदार्थ मात्र का) परिवर्तन स्वभाव है । जिस जनपद का नेता न्यायशील होगा, जहां की जनता अपने हेयोपादेय की समझने वाली होगी, उस का अवश्य उदय होगा । प्राचीन समय में लोग विद्याव्यसनी

होते थे, धन व्यय करने में उदारता प्रकट करते थे, इससे वह अपने समाज के ह्रास के कारणों का देखते ही तत्काल उपाय करलेते थे। आज कल यद्यपि लोग धनसम्पत्ति से सुखी हैं तो भी तादृशज्ञान सम्पदा के न होने से देशका जैसा चाहिये वैसा भला नहीं हो सकता।

हालां कि आज भी भारत के दानवीर दान देने में अपनी प्राचीन उदारता से पीछे नहीं हटे। ऐतिहासिक साधन साक्षी देते हैं कि हमारा यह सभ्य संसार पैसा खर्चने में किसी तरह से भी हाथ पीछे नहीं हटाता।

॥ आदर्शजीवन ॥

यदि कोइ हमसे पूछे कि जीवन का अलङ्कार क्या है? तो हम निःसंकोच होकर कह सकते हैं कि चरित्र ही जीवन का एक मात्र अलंकार है। चरित्र आत्मा की एक विशेष शक्ति है, इसी शक्ति के प्रभाव से हमारी नीच भावनाओंका दमन होता है, हृदय के अपवित्र भाव दूर होते हैं, हम पवित्रता प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो उठते हैं, और सत्यकी खोज में प्राण तक देनको तैयार हो जाते हैं। इसी शक्तिबल के प्रभाव से हम भीषण प्रभंजनोंका सामना करने के लिये खड़े होजाते हैं, सम्राट की अपकृपा से भी विचलित नहीं होते, और कठोर जीवन संग्राम में जयलाभ प्राप्त कर सकते हैं। संसार में जितने प्रतिष्ठित व्यक्ति होगये हैं व सब इसी अद्भुत शक्तिबल के प्रभाव से पूज्य हुए हैं। धन और ऐश्वर्य द्वारा किसी व्यक्ति ने किसी कालमें भी महत्ता प्राप्त नहीं की। चरित्र ही महत्ता प्राप्त करने का एक मात्र सोपान है।

यह ईश्वर प्रदत्त शक्ति है, यही विश्वका नियता है, इसी के भयसे चन्द्र सूर्य उदय होते हैं, वायु संचालन करती है, इसी से निर्मल पवित्रता का स्रोत प्रवाहित होकर पापमय जगत को स्वर्गभूमि में परिणित कर देता है, यही इस अद्भुत शक्ति का जन्मदाता है। नहीं तो क्षीण

वाय दुर्बल मनुष्य किस बलसे बलवान् होकर यह मार सहायों और अपने प्राणोंतक के विसर्जन कर देने में भी कातर नहीं होता।

एक न्यायका अनुष्ठान करने से सारा संसार तुम्हारी सहायता करने के लिये तैयार हो जावेगा। उस न्यायानुष्ठान के प्रतिष्ठित करने में तुम्हारा सर्वस्व ही क्यों न चला जाय तो भी तुम्हारे हृदय में लेशमात्र भी कष्ट न होगा किन्तु एक अन्याययुक्त आचरण करनेसे तुम्हें सौ बिच्छु ओंके काटने समान पीड़ा होगी। तुम्हारा हृदय अशान्तिका घर बन जायगा और तुम संसारको नरक के समान भीषण स्थान समझोगे, तब तुम सोचोगे कि तुम संसार में अकेले हो, सारा संसार तुम्हारी ओर घृणापूर्ण दृष्टिसे देख रहा है, कोई भी तुम्हें आश्वासन द्वारा शान्ति देनेके लिये प्रस्तुत नहीं। संसारके संपूर्ण व्यक्ति गण तुम्हारी पापमय संगति से दूर भागना चाहेंगे। इसी प्रकार न्याय और अन्याय में भी भेद है, भगवान का भक्त भारी विपत्ति में भी अन्याय का परित्याग कर के न्याय का अनुसरण करता है, इस का और कोई कारण नहीं यह न्याय के बीच परमात्माकी शक्ति देखकर ही उसपर अनुराग करता है।

॥ शिक्षा का प्रयोजन ॥

अनेक मातापिता अपने पुत्रको इस आशा से पाठशाला में भेजते हैं कि मेरा बेटा पण्डित बन कर कोई ऊंचा पद प्राप्त करेगा, किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि उनका पुत्र चरित्र गठन ही से नाना बन सकता है। इस विषय की उपेक्षा करना अपनी संतान पर घोर अन्याय करना है। चरित्र गठन ही शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिये। यह बात सत्य जान पड़ती है कि विद्वान् होने से उच्च पदकी प्राप्ति होती है, किन्तु चरित्र के अभाव में वह उच्चपद सुरक्षित नहीं रह सकता।

अत एव पुत्रको चरित्रवान् बनाने के लिये चरित्र गठन पर ध्यान रखना मातापिताका प्रधान कर्तव्य है।

सम्राट से लेकर एक सामान्य किसान के बालक को अपने व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिये ज्ञान और चरित्र की अत्यन्त आवश्यकता है। इतने विवेचन से सिद्ध हुआ कि क्या राजकुमार और क्या किसान के बालक दोनों को शिक्षित होना बहुत आवश्यक है।

अनेक व्यक्तियोंकी धारणा है कि पैतृक व्यवसाय अथवा किसी अन्य व्यवसाय में शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। मैं पूछता हूँ कि मानव समाज को अज्ञान के घोर अन्धकार में रखनेका किसे अधिकार है? किसान के बालक और राजकुमार के अन्तःकरण में जिस प्रमाण से ज्ञानप्रभा प्रकाशित होती है उसी परिमाणानुसार हमारे कार्यकी सिद्धि होती है। चरित्रवान किसान का बालक क्या चरित्रवान राजकुमारके समान सुन्दर नहीं है? तब फिर एक को शिक्षा देकर दूसरे को उससे वंचित रखनेवाले तुम कौन हो? यह बात अवश्य स्वीकार की जा सकती है कि व्यवसायसम्बन्धी शिक्षा सबको एकही सी नहीं दी जासकती। राजकुमारको राजनीतिसम्बन्धी, और किसान के बालक को कृषिसम्बन्धी ही शिक्षा देना उचित है, किन्तु जो शिक्षा ज्ञानवान् बनाती और चरित्र गठन करती है वह सब एक ही ढंगकी देना उचित है, इसी शिक्षा का नाम शिक्षा है।

॥ परमार्थ और देशसेवा ॥

खान की मिट्टी जिसको खान में से खोदकर उसके टुकडे टुकड किये जाते हैं, इतना ही नहीं वरन् उसको गधों पर चढाया जाता है, पानीमें भिजो कर उसे पैरोंनाचे मर्थन किया जाता है, चक्रपर चढाकर खूब घुमाया जाता है तो भी शाबासी है उस सहनशील जाति को कि जो इतने

कष्टों को सहन करती हुइ भी पात्र बन कर ससारकी स्वार्थसिद्धि करती है।

और भी सुनिये, कपास के डोडोंको तोड कर धूप में और धूल में फेंक देते हैं, उसकी अस्थियें तोडकर सार निकाल लिया जाता है, उस सारभूत कपास को भी धूप में फेंक कर सूत तणाया जाता है। मार मार कर इसके पीछे पीछे ढुकडे किये जाते हैं, यत्र में पीला जाती है, पिता–पुत्र का आजन्म वियोग किया जाता है, लोह की शूलीपर चढाया जाता है, अनेक औजारों से मारी पीटी जाती है तो भी वह उपकारी पदार्थ वस्त्र बन कर कुल ससार भरके नरनारियोंके गुप्त अङ्गों का ढकनी है। तो अरे–निस्सार! अरे ससारसार जीवन! मनुष्य! सचेतन होकर अमूल्य मानवभव से कुछ भी निज परका उपकार न करेगा तो तुझे और क्या कहे! एक कविता नीचे दर्ज है उसे सुनना और याद तेरी सरजी—

मनुष्य जन्म पाय सोवत विहाय जाय,
खोवत करो रनकी एक एक घरी है॥

किसीने यह लुकमान से जाके पूछा जरा इसका मतलब तो समझाइयेगा।

जमाने में कुत्ते को सब जानते हैं,
वफादार भी उसको सब मानते हैं,
ये करता है जो अपने मालिक पे कुरबाँ,
खिलाना है बचों का घर का निगाहबाँ॥
भरा है यह खून महब्बत रगों मे,
न देखा सगों में जो देखा सगों में॥
पडे मार खाकर भी यह दुम दबाना,
कि दुश्वार हो जाय पीछा छुडाना॥
जगत्में है मशहूर इसकी भलाइ।
मगर नामर्म है क्या इसके बुराइ॥

किसी आदमीको कहें हमजो कुत्ता ॥
तो मुहपर वहीं दे पलटकर तमाचा ।
कहा उससे लुकमान ने बात यह है ॥
खुली बात है कछ मुइम्मा नहीं है ।
यह माना है बराऊ वफादार कुत्ता ॥
बड़ा जाँ नीसार और गमखार कुत्ता ।
फकत आदमी पर है यह जानेसारी ॥
मगर कौमकी कौम दुश्मन है भारी ।
यह रखता है दिलमें मुहब्बत पपइ ॥
खटकते हैं इसकी निगाहोंमें भाई ।
नजर आवे इसको अगर गैर कुत्ता ॥
तो फिर देखिये इसका तौरी बदलना ॥
न जिसने कभी कौमका कौम माना ।
कहे क्यों न मरदूद उसको जमाना ? ॥
बुरा क्यों न मानेंगे अहले हमीयत ।
कि—औरोंसे उलफत सगोंसे अदावत ॥

॥ विमर्श -परामर्श ॥

भारत वर्षमें शुभकार्यों के लिये रुपय की कमी नहीं है, किन्तु इ । लोगोंमें देशभक्ति तथा परोपकारी मनुष्यों का अभाव है, जिनके बिन। हम लोगोंको समितियों तथा सुधारके कार्योंमें बाधा पड़ती है । "शास्त्रों" में विद्यादान सबसे उत्तमदान कहा गया है इसी लिये जो लोग इस पुण्यकार्य अर्थात् सार्वजनिक शिक्षा प्रदान का यत्न करेंगे वह वास्तव में धर्मात्मा कहे जा सकते हैं । भारत सन्तान अपने दान एवम् उदारता के लिये प्रसिद्ध है । पुरान मन्दिरमन्दिर आदि चारों ओर दृष्टिगोचर

रहे हैं। और नये मन्दिरों और धर्मशालाओं के बनाने में एवं परस्पर के खिलाने पिलाने में अनुचित रीतिसे " दान का अपरिमित धन व्यय किया जा रहा है। यदि वही धन उचित रीतिसे शिक्षा की उन्नति में व्यय किया जाय अर्थात् देशको उन्नति के शिखरपर पहुंच जाने में अधिक काल नहीं लगेगा। साधारण गणना से प्रतीत होता है कि इस समय " महाराजाओं, राजाओं जागीरदारों रईसों तथा साधारण मनुष्यों " के दानकी संख्या प्रतिवर्ष सत्तर करोड़ से कम नहीं है। इस अनन्त धन का उचित रीतिसे व्यय होना चाहिये। इस कार्य की सिद्धि के निमित्त प्रत्येक देशवासी को उचित है कि अपनी लेखनी द्वारा लेख प्रकाशित कर तथा उपदेशोंकी सहायता से जनसमूह तथा रईसों का उपकार करें।

साम्प्रदायिक नियंत्रण।

किसी भी सम्प्रदाय के ऐतिहासिक वर्णनों का अवलोकन करने से प्रायः इस बात का पता लगता है कि सम्प्रदाय की डोरी नेताओं के ही हाथ में रही है। नेताओं से हमारा आशय धर्म प्रचारकों से है। और विशेष कर यह लोग साधु, सन्यासी, पोप पादरी, पण्डित, राज गुरु प्रभृति नामों से विविध वेशों से पहिचाने जाते हैं। उन में से जिस किसीने जिस धर्मको अपना मानकर स्वीकृत किया है वह उसकी हर प्रकार से रक्षा करता है जिस प्रकार कृषक बड़ी सावधानी से अपने क्षेत्र की निगहबानी रखता हुआ अन्यान्य पशुपक्षियों तथा यात्रियों से बचाने की योजना करता है। इसी प्रकार वह धर्मनायक भी अपने सम्प्रदाय को बलिष्ठ बनाने के प्रयत्न में लगा रहता है।

हां! इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि भारत वर्ष में छप्पन लाख साधुओं की संख्या मानी जाती है और इन का भार विशेष कर गृहस्थों पर ही है। इनमें से सन्मार्ग का सदुपदेश देनेवाले कितने हैं!

और अनर्गलशब्दों का प्रयोग कर तथा उत्तम पदार्थों को खाकर मानव जीवनको इतिश्री तक पहुचाने वाले कितने हैं ?

पहिले समय के साधु अपने कमक्षय–तप जप ज्ञान ध्यान–ब्रह्मचर्य –आतापना विनय आदि योगों ने विचर कर अनेकानेक तरह की शक्तियाँ प्राप्त करते थे, और उनके बलसे अपने शासनकी ध्वजा पताका फहराते थे।

॥ आत्मशक्ति ॥

शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है कि चार ज्ञान के धारक उसी जन्म में जिनकी मोक्ष होनेवाली है, ऐसे श्रीगुरु गौतमस्वामी जब सूर्य की किरणोंका सहारा लेकर अष्टापद पर चढ तब वहा जो १५ सौ तपस्वी तप कर रहे थे, उन्होंने उनके चमत्कार को देखकर श्रद्धापूर्वक उन को प्रणाम कर अपने गुरु मान लिये। नीचे उतरने पर उन सबने हाथ जोडकर पूछा प्रभु! हम १५ सौ तापस ५००–५०० सौ कि टुकड़ी करके यहां विजन जगल में रहते हैं। अनेक प्रकारकी तपस्या करके सूखे फल फूल खाते हैं, तो भी १–२–३ पावडीसे ऊपर नहीं जा सकते। और हमारे देखते ही देखते आप सुक्ष्म सी वस्तु का सहारा लेकर ३२ कोसक ऊचे इस पहाड के शिखर पर कैसे चढ गये ?। क्षीराश्रव लब्धिसपन्न गणधर महाराज ने बडे प्रमसे सकाम और निष्काम तपका स्वरूप समझाकर कहा–जो तप सिर्फ आत्मकल्याणके लिये किया जाता है, और जिसमें ज्ञानयोग की मुख्यता होती है, उस निष्काम अर्थात् इच्छारहित तपके प्रभाव से जीव में अणिमा, महिमा गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व यह आठ प्रकारकी लब्धियां उत्पन्न होती हैं।

> अणिमा महिमा चैव, गरिमा लघिमा तथा।
> प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्व वशित्व चाष्टसिद्धयः ॥ १ ॥

इस बात को सुनकर वह सबके सब तपस्वी श्रीगुरु गौतम स्वामीजी के पास दीक्षित हुए गणधर महाराज ने सिर्फ एक ही पात्र में क्षीर लाकर उन सब को खिलाई। उन १५०० मनुष्यों को गौतम गुरुने उतने पात्रकी खीर से ही तृप्त कर दिया। इस बनाव को देख कर उन्होंने बहुत लाभ उठाया। ऐसे ही कहते हैं राजा विश्वामित्र अपने सैनिकों को साथ लेकर वशिष्ठ ऋषि के आश्रम में गये। ऋषिने राजाको भोजन देना चाहा, राजाने इनकार करते हुए कहा मैं अपने सहचारियोंको भूखा रखकर अकेला भोजन नहीं करूंगा। वशिष्ठ बोले हम तुम सबको अपना अतिथि बनाते हैं, राजा ने हंस कर कहा आप इस छोटीसी झोंपडीमें रहकर असंख्य मनुष्य और पशुपक्षियों को क्या खिलायेंगे?, वशिष्ठ ने कहा तुम निश्चिंत रहो हम सभी अतिथियोंका सत्कार करेंगे। निदान सभीने ऋषिके न्यौता स्वीकार करके स्नान किया। इधर ऋषिजीने अपनी छोटी झोंपडी मेंसे विविध प्रकार के स्वादिष्ट, रोचक, पाचक भोजन देकर राजाको और उनके साथके असंख्य मनुष्यों को तृप्त किया।

सिंहावलोकन।

पूर्वकालके साधु सन्यासी लोग धर्मशास्त्र विज्ञान में, पौराणिक विज्ञान में, पदार्थ विद्यामें, धर्म दर्शनाके स्वरूप परिभाषामें धर्मोपदेश देने में, नये नये ग्रन्थों के निर्माण करने में, योग विद्या, मन्त्र विद्या तन्त्रकला, नक्षत्रचार भूगर्भों की विद्या, सर्पविनाशक, कृषिवाणिज्य कौशल्य, नीतिशास्त्र, राशिविद्या, सर्पविषापहारी मणिमंत्रौषधि परिज्ञान दर्शनाकर्षणविद्या, प्राणायाम राजयोग —परस्पर शास्त्रार्थ द्वारा, वाद जय पराजय, समारयात्रा, तीर्थयात्रा। इत्यादि सत्कार्योंमें लगे रहते थे, उन सर्व बातों का नाश हो गया है। विद्याओं के बदले व्यापार, ऐतिहासिक शास्त्रों के बदले नवल कथा। पौराणिकादि परिज्ञान तो नाममें ही

हो रहा है, पदार्थविद्या तो अग्रजों के घरोंमें, दर्शनशास्त्रों का उदहा ला रही है, उनका भाव ही कौन पूछे ? धर्मोपदेश है तो समाजमें अपनी बड़ाई और महत्ता बढ़ाने के लिये, ग्रन्थ निर्माण न बदले अगर प्राचीन ऋषियों के बनाये पद बांचे ही जावें तो भी बस है। जहां तक कहूं प्रायः प्राय सारा ही चक्र ऊंधा चल रहा है, जिन के पूर्वजोंने अपने विविध विज्ञान द्वारा राजा महाराजा श्रेष्ठ रईस लोगों को सन्मार्गगामी बनाया था, आज वह अपने पूर्वजों की कीर्तिरूप जायदाद का खा खा कर पापी पेटकी बेठ उतार रहे हैं। इस बात का स्पष्टीकरण नीचे के पद्यों से भली भांति हो सकेगा।

सुना गया है कि भगवान् श्रीमन्–" महावीर स्वामी " के समय में ३६३ मत थे, परन्तु वर्तमानकाल के इसके बाद के समय में उन मतोंकी संख्या भी ३६३ से बढ़ कर आज कल ३००० तक पहुंच गई है।

संसार में साधु संन्यासी–उदासी निर्मले–वैरागी–परवी–मुनि–ब्रह्मचारी–तापस तपस्वी–नागे अवधूत – संत – महंत – यति – भिक्षु इत्यादि नाम धारक मनुष्यों की संख्या जगत् में ५६ लाख जितनी सुनी जाती है।

[विशेष के लिये देखो देशदर्शन,

> वे भूरि संख्यक साधु, जिनके पथ भेद अनन्त हैं।
> अवधूत यति नागा उदासी, संत और महन्त हैं ॥
> हा ! ये गृहस्थोंसे अधिक हैं, आज रागी दीखते।
> अत्यल्प ही सच्चे विरागी, और त्यागी दीखते ॥ १ ॥
> जो कामिनी-काञ्चन-न छूटा, फिर विराग रहा कहां ! ।
> पर चिन्ह तो वैराग्य का, अब है जटाओंमें यहां ॥
> भूखो मरे कि जटा रखाकर, साधु बनकर,न लये।

चिमटा लिया मस्मी रमाइ, मागन लान लगे ॥ २ ॥
सख्या अनुयायी अनार्ची, दीननास बढ रही।
शुचि साधु न पर भी कुयशकी, कालिमा है चढ रही ॥
भस्म लेपन ही कहीं, मनकी मलिनता छूटती।
हा! साधुमर्यादा हमारी, अब दिनोदिन टूटती ॥ ३ ॥
यदि ये हमारे साधु ही, कर्तव्य अपना पालते।
तो देशका बेड़ा कभी का, पार यह कर डालते ॥
पर हाय! इन में शान तो, सब रामका ही नाम है।
दमकी चिलमम जो उठाना, मुख्य इनका काम है ॥ ४ ॥
(मैथिलीशरण गुप्त)

एक महापुरुष का कथन है कि—
पुनि विसय पसत्ता, पुनिविहु धणधन सगहसमेया।
सीसगुरुसमदोसा, तारिहइ भणसु को केण ? ॥ १ ॥
(भावार्थ) ससारी जीव–जगत्में–साधुओं के निमित्तसे, उनके कथनसे प्रतिवर्ष (६०) क्रोड़ रुपया व्यय होता है।
[देखो " ससार नामक मासिक पत्र "]

जो साधुसतको सेवा करते हैं उन के बतलाये हुये रास्ते पर चलते हैं, उनके करनेसे लाखों कोड़ों रुपये खर्च पड़ते हैं। यह नित्य वास्ते ? लभुओं के साथ उनका क्या नाता है ? क्या कर्तव्य है ? कहना होगा कि धर्म। सिवाय धर्म के जहां और किसी भी किस्म का सबंध होगा वहां दोनों को हानि ही पहुंचेगी। अतएव सिद्ध हुआ कि ससार में साधु महात्माओं का सच्चा परिचय गृहस्थ को अनादिकाल की दुर्वासनाओं से बचानेवाला है, हटाने वाला है। परन्तु साधु अपना साधुधर्म में कायम होना चाहिये। अगर ऐसा न होगा तो हम क्या ? शिष्य अर्थात् गृहस्थ के एक पत्नी, अर्थात् गृहस्थ

॥ पूर्वपर्यालोचन ॥

प्रथम वर्णन किया जा चुका है कि अपने विषद विद्याबलसे, विशुद्ध तपोबलस, अप्रमत्त क्रियाकाण्डस, अप्रतिबद्ध विहारस सत्य उपदेशोंसे, विविध तितिक्षाओंके परिशीलन से, महात्मा बुद्धोंने प्रथम अपने उच्च निर्मल, निष्काम, निर्विकार, एवम् निर्दोष जीवनसे संसारको अपना अनुरागी किया है और तत्पश्चात् ही उनको धर्मोपदेश द्वारा मार्गानुगामी किया है। इस ही संसारके अग्रगण्य गृहस्थ महानुभावोंको भी आवश्यक है कि यह दूसरे को आदर्श बनाने के प्रथम अपने जीवन को असाधारण बनाने का दृढ़ प्रयत्न करें, बस संपूर्ण संसार उसका दास है।

यह बात भी अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि केवल शिक्षा ही काफी नहीं है, चतुर आदमी दुराचारी भी हो सकता है, धर्महीन मनुष्य जितना चतुर होगा उतना ही अत्याचारी होगा, अत एव शिक्षा की नींव धर्म और सच्चरित्रता पर स्थित होनी चाहिये, कोरी शिक्षा किसी भी कामकी नहीं, उससे बुरी वासनायें दूर नहीं हो सकतीं। बुद्धि की वृद्धि का (साधारणतया) सच्चरित्रता पर बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुधा लिखे पढे मनुष्य अदूरदर्शी अपव्ययी और आचारभ्रष्ट देखनेमें आते हैं, अत एव यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों पर स्थित हो। [इसका अधिक विस्तार मिलजुलता से देखो]

अब देशसेवा के हिमायतियों को गौर कर के सोचना चाहिये कि यही अवसर फिर आना मुश्किल है "स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम्"।

बाकी तो विदेशी शिक्षा पाकर भी विदेश भ्रमण करके भी अगर देशसेवा नहीं की तो मारे ! तुझे क्या कहूं ? वकिंग्टन का कहना है—

अमरीकनों के पात्र जूट, साफ कर पंडित हुए ।
सधे स्वदेशी मानसे, फिर भी नहीं मंडित हुए ॥
दृष्टान्त बनत है अधिक, वह इस कहानत के लिये ।
बारह बरस दिल्ली रह, पर भाड़ही झोका किये ॥

जर्मनी में सेनाविभागवाले लोग और वणिक लोग कबूतरों तथा अन्य पालित चिड़ियों को शिक्षित करने और बड़ तरह से अपने काम के योग्य बनाने की चेष्टा कर रहे हैं । वे इनके गले में चिट्ठी तथा पत्रों को स्थान से बांधकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की शिक्षा देते हैं । वणिक लोग अपनी शाखाओं में जो किसी नदी के पार हैं नौका आदि की प्रतीक्षा न कर अति आवश्यक पत्रों को इन्हीं पक्षियों के द्वारा भेजा करते हैं । उसी तरहसे सेना विभाग भी युद्धके समय शिक्षित कबूतरों से संवाद भेजने का काम लेता है । समाचार पत्रों में पढ़े लिखे लोगों को यह संवाद मिला होगा कि हाल में जो प्रदर्शनी जर्मनीमें हुई थी उसमें १०,००० शिक्षित कबूतर लाये गये थे जो निश्चित स्थानों पर संवाद पहुंचाते थे । इन कारणों से जर्मनीमें एक कबूतर का मारना वध के मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य है ।

जैन धर्ममें गृहस्थाश्रमके पांच नियम ।

१—निष्कारण निरपराधी जीव को जानकर न मारना । और जिस ने अपना अपराध किया है जहां तक हो सके उसपर भी क्षमा करनी ।

२—अव्वल तो सर्वथा झूठ न बोलना, अगर निर्वाह न होसके तो कन्या, गौ, भूमि, इन तीन चीजों के विषय में तो झूठ न बोलना और अमानत गुम्म न करना, ४ झूठी गवाही न देना ।

३—मालिक की इजाजत के सिवाय किसी की चीज पर अपनी मालिकी न करना अर्थात् चोरी न करना ।

४ रात्रि सनात्र वरं—रात्रि गमन का त्याग करना ।

५—धनसम्पति का सन्ताप—इच्छानिरोध तृष्णा का घटाना ।

जनधम की प्रौढ़ और मुख्य शिक्षा यह ही है कि सब जीवात्माओं का चाहे वह छोटे हों चाहे बड़े हों, अमीर हों या गरीब हों, सबका भला करना, सब को अपने आत्मा के समान मानना। बिना प्रयोजन किसी को मत सताओ "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" जिसको तुम सताओगे वह कभी न कभी तुम्हारा भी नुकसान करेगा, उस वक्त तुमको बहुत बड़ा क्लेश होगा।

" कम्न साव जम गर दू गर काइ मरी सुन ।
है यह गुम्मज की सदा जैसी कहे वैसी सुने ॥ "

(१) जैनधर्म को स्वीकार कर के कुमारपाल जैसे राजाओं ने दया में क्षुद्र से क्षुद्र प्राणियों की भी रक्षा की है, मगर जब देश रक्षण का काम पड़ा तब तलवार लेकर मैदान में भी उतरे हैं। कवि दलपत राम लिखता है कि "जैनों की दयाने समाज को कमजोर कर दिया है" मगर यह सरासर झूठ है, जैन के ऐतिहासिक पुस्तकों से बराबर सिद्ध होता है कि महावीर के परम भक्त द्वादश व्रत धारक श्रावक राजा चेटक (चेडा) ने १२ वर्ष तक कूणिक राजा से संग्राम किया है। उदायी राजा ने मालवदेश उज्जयनी पति चन्द्रप्रद्योतन को जीता है। सम्प्रति राजाने त्रिखण्डभूमिका विजय किया है। कुमारपालने सपादलक्ष राजा (शाकम्भरी) साम्भरके अर्णोराजा, चन्द्रावती के राजा सामन्तसिंह को जीता है। इतना ही नहीं बल्कि उनके जैनमंत्रि भी लड़ाइयों में विजय पाते रहे हैं, कुमारपालका मुख्य प्रधान उदयन लड़ाई में ही मारा गया था। कुमारपाल के पूर्व गुजरात के राजा दव हो चुके हैं, उन का मंत्री विमलशाह बड़ा बहादुर था, तीर और तलवार का जोर शत्रु औं का उत्साहस पराजित करता था। सिन्ध की चढ़ाई में विमल की

बहादुरी से ही शिल्पमति सबक्ता गया था। प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल तेज-पाल ने कई बार गुजरात की तरफ आते हुए यवनों को परास्त कर के पीछे लौटाया था। मेवाड़ केसरी महाराणा प्रताप जब सब तरह से हारकर मुगल बादशाह से सन्धि करने को तैयार हुये थे तब उन को सहायता देकर फिरसे उत्साहित करनेवाला भामाशाह मारवाड़ जैन-धर्मका ही उपासक था। प्रसिद्ध है कि १२ वर्षतक हाथी घोड़े सहित २५ हजार फौजी मनुष्यों का पालन हो सके इतनी सहायता देकर भामाशाह मेदपाट भारत के अस्त होते सूर्यको थाम लिया था। इतना ही नहीं बल्कि अपने राज्यको किसी कारण वश छोड़कर चित्तौड़में आये हुए बहादुर शाहको आपत्ति के समय किसी भी शर्त बिना एक लाख रुपया देकर उसे सुखी करनेवाला भाग्यवान् कर्मशाह भी जैन ही था।

तीर्थंकर देवोंका यह ही उपदेश है कि सभीका लाभ चाहो। तुम्हारा सुदृढ़ भी भला होगा। मनसे वचनसे और कर्मसे जीवमात्र के साथ मैत्री रक्खो। सदाकाल सत्यमार्गी रहो। जिह्वा यह लक्षिणास्त्र शस्त्र है, इसमें कीचड़ मत भरो, अगर हो सके तो कामधेनुका दूध भरो, यह तुमको माहितकर का देनेवाला होगा॥ १॥

जैनधर्मका अहिंसातत्त्व।

जैनधर्म के सब ही 'आचार' और 'विचार' एक मात्र 'अहिंसा' के तत्त्व पर रचे गये हैं। यों तो भारत के ब्राह्मण, बौद्ध आदि सभी प्रसिद्ध धर्मों ने अहिंसा को 'परम धर्म' माना है और सभी ऋषि, मुनि साधु सन्त इत्यादि उपदेशकों ने अहिंसा का महत्त्व और उपादेयत्व बतलाया है; तथापि इस तत्त्व को जितना विस्तृत, जितना सूक्ष्म, जितना गहन और जितना आचरणीय जैनधर्म ने बनाया है, उतना अन्य किसी ने नहीं। जैनधर्म के प्रवर्तकों ने अहिंसातत्त्व को

चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। उन्होंने केवल अहिंसा का कथन मात्र ही नहीं किया है परन्तु उसका आचरण भी वैसा ही कर दिखाया है। और और धर्मों का अहिंसा तत्त्व केवल कायिक बन कर रह गया है परन्तु जैनधर्म का अहिंसा तत्त्व उससे बहुत कुछ आगे बढ़कर वाचिक और मानसिक से भी पर–आत्मिक रूप बन गया है। औरों की अहिंसा की मर्यादा मनुष्य और उससे आदह हुआ तो पशु–पक्षी के जगत् तक आकर समाप्त हो जाती है, परन्तु जैनी अहिंसा की कोई मर्यादा ही नहीं है। उसकी मर्यादा में सारी सचराचर जीव जाति समा जाती है और तो भी वह वैसी ही अमित रहता है। वह विश्व की तरह अमर्याद–अनन्त है और आकाश की तरह सर्व पदार्थ व्यापी है।

परन्तु जैनधर्म के इस महान् तत्त्व के यथार्थ रहस्य को समझने के लिये बहुत ही थोड़े मनुष्यों ने प्रयत्न किया है। जैन की इस अहिंसा के बारे में लोगों में बड़ी अज्ञानता और गलतफहमी फैली हुई है। कोई इसे अव्यवहार्य बतलाता है तो कोई इसे अनाचरणीय बतलाता है। कोई इसे आत्मघातिनी कहता है और कोई राष्ट्रनाशिनी। कोई कहता है जैनधर्म की अहिंसा ने देश को पराधीन बना दिया है और कोई कहता है, इसने प्रजा को निर्वीर्य बना दिया है। इस प्रकार जैनी अहिंसा के बारे में अनेक मनुष्यों के अनेक कुविचार सुनाई देते हैं। कुछ वर्ष पहले देशभक्त पंजाबकेसरी लालाजी तक ने भी एक ऐसा ही भ्रमात्मक विचार प्रकाशित कराया था, जिसमें महात्मा गांधीजी द्वारा प्रचारित अहिंसा के तत्त्व का विरोध किया गया था, और फिर जिसका समाधायक उत्तर स्वयं महात्माजी ने दिया था। लालाजी जैसे महान् विद्वान् और प्रसिद्ध देशनायक हो कर तथा जैन साधुओं का पूरा परिचय रखकर भी जब इस अहिंसा के विषय में वैसे भ्रान्तविचार रख

सकते हैं तो फिर अन्य साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या की जाय। हाल ही में—कुछ दिन पहले—मी. के. नरीमान नामक एक पारसी विद्वान् ने महात्मा गांधीजी का सम्बोधन कर एक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने जैनों की अहिंसा के विषय में ऐसे ही भ्रमपूर्ण उद्गार प्रकट किये हैं। मि. नरीमान एक अच्छे ओरिएन्टल स्कॉलर हैं, और उनको जैन साहित्य तथा जैन विद्वानों का कुछ परिचय भी मालूम देता है। जैनधर्म से परिचित और पुरातन इतिहास से अभिज्ञ विद्वानों के मुंह से जब ऐसे अविचारित उद्गार सुनाई देते हैं, तब साधारण मनुष्यों के मन में उक्त प्रकार की भ्रांति का उठ जाना स्वाभाविक है। इसलिये हम यहां पर संक्षेप में आज जैनधर्म की अहिंसा के बारे में जो उक्त प्रकार की भ्रांतियां जनसमाज में फैली हुई हैं, उनका मिथ्यापन दिखाते हैं।

जैनी अहिंसा के विषय में पहला आक्षेप यह किया जाता है कि—जैनधर्म के प्रवर्तकों ने अहिंसा कि मर्यादा को इतनी लम्बी और इतनी विस्तृत बना दी है कि, जिससे लगभग वह अव्यवहार्य की कोटि में जा पहुंची है। जो कोई इस अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करना चाहे तो उसे अपनी समग्र जीवनक्रियायें बन्द करनी होंगी और निश्चेष्ट हो कर देहत्याग करना होगा। जीवनव्यवहार को चालू रखना और इस अहिंसा का पालन भी करना, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। अतः इस अहिंसा के पालन का मतलब आत्मघात करना है; इत्यादि।

यद्यपि इसमें कोई शक नहीं है कि—जैन अहिंसा की मर्यादा बहुत ही विस्तृत है और इस लिये उसका पालन करना सबके लिये बहुत ही कठिन है। तथापि यह सर्वथा अव्यवहार्य है या आत्मघातक-

है, इस कथन में किंचित् भी तथ्य नहीं है । न यह अव्यवहार्य ही है और न आत्मघातक ही । यह बात तो सब कोई स्वीकारते और मानते हैं कि, इस अहिंसा तत्त्व के प्रवर्तकों ने इसका आचरण अपने जीवन में पूर्ण रूप से किया था । वे इसका पूर्णतया पालन करते हुए भी वर्षों तक जीवित रहे और जगत् को अपना परम तत्त्व समझाते रहे । उनके उपदेशानुसार अन्य असंख्य मनुष्यों ने आज तक इस तत्त्वका यथार्थ पालन किया है परंतु किसीको आत्मघात करनेका काम नहीं पड़ा । इस लिये यह बात तो सर्वानुभवसिद्ध जैसी है कि जैन अहिंसा अव्यवहार्य भी नहीं है और इसका पालन करने के लिए आत्मघात की भी आवश्यकता नहीं है । यह विचार तो वैसा ही है जैसा कि महात्मा गांधी जीने देशका उद्धार निमित्त जब असहयोग की योजना उद्घोषित की तब अनेक विद्वान और नेता कहलाने वाले मनुष्योंने उनकी इस योजनाको अव्यवहार्य और राष्ट्रनाशक बतानेकी लम्बी लम्बी बातें की थीं और जनताको उसे सावधान रहने की हिदायत दी थी । परंतु अनुभव और आचरण से यह अब निस्संदेह सिद्ध हो गया कि न असहयोग की योजना अव्यवहार्य ही है और न राष्ट्रनाशक हो । हां जो अपने स्वार्थका भोग देनेके लिये तैयार नहीं और अपने सुखोंका त्याग करने को तत्पर नहीं उनके लिये ये दोनों बातें अवश्य अव्यवहार्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । आत्मा या राष्ट्रका उद्धार बिना स्वार्थत्याग और सुख परिहार के कभी नहीं होता । राष्ट्र को स्वतंत्र और सुखी बनानेके लिये जैसे सर्वस्व अर्पण की आवश्यकता है वैसे ही आत्मा को आधि व्याधि उपाधिसे स्वतंत्र और दुःखसे निर्मुक्त बनानेके लिये भी सर्व मायिक सुखों के बलिदान कर देनेकी आवश्यकता है । इस लिये जो " मुमुक्षु " (बंधनोंसे मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवाला) है—राष्ट्र और आत्माके उद्धारका इच्छुक है उस तो यह जैन अहिंसा कभी भी अव्यवहार्य या

आत्मनाशक नहीं मालूम देगी परन्तु स्वार्थलोलुप और दुर्मर्षी जीवोंकी बात अलग है।

जैन धर्मकी अहिंसा पर दूसरा परंतु बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि—इस अहिंसा के प्रचारने भारत को पराधीन और प्रजाको निर्वीर्य बना दिया है। इस आक्षेपके करने वालों का मत है कि अहिंसा के प्रचारसे लोकोंमें शौर्य नहीं रहा। क्योंकि अहिंसाजन्य पापसे डर डर लोकोंने मांस भक्षण छोड़ दिया, और बिना मांस भक्षणके शरीरमें बल और मनमें शौर्य नहीं पैदा होता। इस लिये प्रजाके दिलमेंसे युद्धकी भावना नष्ट हो गई और उसके कारण विदेशी और विधर्मी लोकोंने भारत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन बना लिया। इस प्रकार अहिंसाके प्रचारसे देश पराधीन और प्रजा पराक्रमशून्य हो गई।

अहिंसा के बारे में की गई यह कल्पना नितान्त युक्तिशून्य और सत्यसे पराङ्मुख है। इस कल्पनाके मूलमें बड़ी भारी अज्ञानता और अनुभवशून्यता रही हुई है। जो यह विचार प्रदर्शित करते हैं उनको न तो भारतके प्राचीन इतिहासका पता होना चाहिए और न जगत के मानव समाजकी परिस्थितिका ज्ञान होना चाहिए। भारतकी पराधीनताका कारण अहिंसा नहीं है परंतु भारतकी अकर्मण्यता अज्ञानता और असहिष्णुता है और इन सबका मूल हिंसा है। भारतका पुरातन इतिहास प्रकट रूपसे बतला रहा है कि जब तक भारतमें अहिंसाप्रधान धर्मका अभ्युदय रहा तब तक प्रजामें शांति, शौर्य, सुख और संतोष यथेष्ट व्याप्त थे। अहिंसा धर्मके महान उपासक और प्रचारक नृपति मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त और अशोक थे, क्या इनके समयमें भारत पराधीन हुआ था? अहिंसा धर्मके कट्टर अनुयायी दक्षिणके कदंब, पल्लव और चौलुक्य वंशोंके प्रसिद्ध प्रसिद्ध महाराजा थे, क्या उनके राजत्वकालमें किसी परचक्रने आकर भारतको सताया था? अहिंसा तत्वका अनुयायी

वर्ती सम्राट ब्राह्मण था, क्या उसके समयमें भारतको किसीने पद दलित किया था? अहिंसा मतका पालन करने वाला दक्षिणका राष्ट्रकूट वंशीय नृपति अमोघवर्ष और गुजरातका चालुक्य वंशीय महाराजा कुमारपाल था, क्या इनकी अहिंसोपासनासे देशकी स्वतंत्रता नष्ट हुई थी? इतिहास तो साक्षी दे रहा है कि भारत इन राजाओंके राजत्व कालमें अभ्युदयके शिखर पर पहुंचा था। जब तक भारतमें बौद्ध और जैन धर्मका जोर था और जब तक ये धर्म राष्ट्रीय धर्म कहलाते थे तब तक भारतमें स्वतंत्रता, शांति, संपत्ति इत्यादि पूर्ण रूपसे विराजित थी। अहिंसाके इन परम उपासक नृपतियोंने अहिंसा धर्मका पालन करते हुए भी अनेक युद्ध किये अनेक शत्रुओंको पराजित किये और अनेक दुष्टजनोंको दण्डित किये। इनकी अहिंसोपासनाने न देश को पराधीन बनाया और न प्रजाको निर्वीर्य बनाया। जिनको गुजरात और राजपूतानेके इतिहासका थोड़ा बहुत भी वास्तविक ज्ञान है वे जान सकते हैं कि इन देशोंको स्वतंत्र, समुन्नत और सुरक्षित रखनेके लिये जैनोंने कैसे कैसे पराक्रम किये थे। जिस समय गुजरातका राज्यकार्यभार जैनोंके अधीन था—महामात्य, मंत्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि बड़े बड़े अधिकारपद जैनोंके अधीन थे—उस समय गुजरातका ऐश्वर्य उन्नतिकी चरम सीमा पर चढ़ा हुआ था। गुजरातके सिंहासनका तेज दिगदिगन्त व्यापी था। गुजरातके इतिहासमें दण्डनायक विमलशाहा, मंत्री मुञ्जाल, मंत्री शान्तु, महामात्य उदयन और बाहड़, वस्तुपाल और तेजपाल, आभू और जगडू इत्यादि जैन राजद्वारी पुरुषोंका जो स्थान है वह औरोंको नहीं है। केवल गुजरात ही के इतिहासमें नहीं परन्तु समूचे भारत के इतिहासमें भी इन अहिंसाधर्म के परमोपासकोंके समान पराक्रमी तुलना रखनेवाले पुरुष बहुत कम मिलेंगे। जिस धर्मके परम अनुयायी स्वयं ऐसे शूरवीर और पराक्रमशाली थे और जिन्होंने अपने पुरुषार्थसे देश और राज्यको खूब

समृद्ध और सत्वशील बनाया था, उस धर्मके प्रचारसे देशकी या प्रजाकी अधोगति कैसे हो सकती है ? देशकी पराधीनता या प्रजाकी निर्वीर्यतामें कारणभूत 'अहिंसा' कभी नहीं हो सकती। जिन देशोंमें 'हिंसा' का खूब प्रचार है, जो अहिंसाका नाम तक नहीं जानते हैं, एक मात्र मांस ही जिनका शाश्वत भक्षण है और पशुसे भी जो अधिक-क्रूर होते हैं क्या वे सदैव स्वतंत्र बन रहते हैं। रोमन साम्राज्य ने किस दिन अहिंसाका नाम सुना था ? और मांस भक्षण छोडा था ? फिर क्यों उसका नाम संसारसे उठ गया। तुर्क प्रजामेंसे कब हिंसा-भाव नष्ट हुआ और क्रूरताका लोप हुआ ? फिर क्यों उस-के साम्राज्यकी आज यह दीन दशा हो रही है ? आयर्लेण्डमें कब अहिंसाकी उद्घोषणा की गई थी ? फिर क्यों वह आज शताब्दि योंसे स्वाधीन होनेके लिये तड़फता रहा है ? दूसरे देशोंकी बात जाने दीजिए-खुद भारत ही का उदाहरण लीजिए। मुगल साम्राज्यके चालकोंने कब अहिंसाकी उपासना की थी जिससे उनका प्रभुत्व नामशेष हो गया और उसके विरुद्ध पेशवाओंने कब मांस भक्षण किया था जिससे उनमें एकदम वीरत्वका वेग उमड आया। इससे स्पष्ट है कि देशकी राजनैतिक उन्नति-अवनतिमें हिंसा-अहिंसा कोई कारण नहीं है। इसमें तो कारण केवल राजकर्ताओंकी कार्यदक्षता और कर्तव्यपरायणता ही मुख्य है।

हां, प्रजाकी नैतिक उन्नति-अवनतिमें सत्वत अहिंसा-हिंसा अवश्य कारणभूत होती है। अहिंसाकी भावनासे प्रजामें सात्त्विक वृत्ति खिलती है और जहां सात्त्विक वृत्तिका विकास है वहां सत्वका निवास है। सत्त्वशाली प्रजा ही का जीवन श्रेष्ठ और उच्च समझा जाता है इससे विपरीत सत्त्वहीन जीवन कनिष्ठ और नीच गिना जाता है। जिस प्रजामें सत्त्व नहीं वहां, संपत्ति, स्वतंत्रता आदि कुछ नहीं। इस लिये प्रजाकी नैतिक

उन्नतिमें अहिंसा एक प्रधान कारण है। नैतिक उन्नतिके मुकाबले में भौतिक प्रगतिका कोई स्थान नहीं है और इसी विचारसे भारत वर्षके पुरातन ऋषि-मुनियोंने अपनी प्रजाको शुद्ध नीतिमान बनने ही का सर्वाधिक सदुपदेश दिया है। युरपकी प्रजाने नैतिक उन्नतिको गौणकर भौतिक प्रगतिकी ओर जो आंखमींच कर दौड़ना शुरू किया था उसका कटु परिणाम आज सारा संसार भोग रहा है। संसारमें यदि सच्ची शान्ति और वास्तविक स्वतन्त्रताके स्थापित होनेकी आवश्यकता है तो मनुष्योंको शुद्ध नीतिमान् बनना चाहिए।

शुद्ध नीतिमान् वही बन सकता है जो अहिंसाके तत्वको ठीक ठीक समझ कर उसका पालन करता है। अहिंसा, शान्ति, शक्ति, शुचिता, दया, प्रेम, क्षमा, सहिष्णुता, निर्भयता इत्यादि सर्व प्रकारके सद्गुणों की जननी है। अहिंसाके आचरणसे मनुष्यके हृदयमें पवित्र भावोंका संचार होता है, वैर विरोधकी भावना नष्ट होती है और सबके साथ बन्धु भावका नाता जुड़ता है। जिस समाजमें ये भाव स्थित हैं वहां ऐक्य का साम्राज्य होता है और ऐक्य ही आज हमारे देशके अभ्युत्थान और स्वातन्त्र्यका मूलबीज है। इस लिए अहिंसा यह देशकी अवनतिका कारण नहीं है परन्तु उन्नतिका एकमात्र और अमोघ साधन है।

'हिंसा' शब्द हननार्थक 'हिंसि' धातु पर से बना है इस लिए 'हिंसा' का अर्थ होता है, किसी प्राणी को हनना या मारना। भारतीय ऋषि मुनियों ने हिंसा का स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार की है—'प्राण वियोग प्रयोजन व्यापार' अथवा 'प्राणि दुःख साधन व्यापारो हिंसा' अर्थात् प्राणी के प्राण का वियोग करने के लिए अथवा प्राणी को दुःख देने के लिए जो प्रयत्न किया उसका नाम हिंसा है। इसके विपरीत—किसी भी जीव को दुःख या कष्ट न पहुंचाना अहिंसा है। 'पातंजल' योगसूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यासने 'अहिंसा' का लक्षण यह किया

है—'सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह—अहिंसा' अर्थात् सब तरह से, सब समय में, सभी प्राणियों के साथ अद्रोह भाव से बरतना—प्रेम-भाव रखना उसका नाम अहिंसा है। इसी अर्थ को विशेष स्पष्ट करने के लिये ईश्वरगीता में लिखा है कि—

> कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा
>
> अक्लेशजनन प्रोक्ता अहिंसा परमर्षिभि ॥

अर्थात्—मन, वचन और कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को क्लेश नहीं पहुचाने का नाम महर्षियों ने 'अहिंसा' कहा है। इस प्रकार की अहिंसा के पालन की क्या आवश्यकता है इसके लिये आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—

> आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदु खे प्रियाप्रिये।
>
> चिन्तयन्नात्मनाऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥

अर्थात्—जैसे अपनी आत्मा को सुख प्रिय लगता है और दु ख अप्रिय लगता है, वैसे ही सब प्राणियों को लगता है। इस लिये अपनी आत्मा के समान अन्य आत्माओं के प्रति भी अनिष्ट ऐसी हिंसा का आचरण कभी नहीं करना चाहिये। यही बात स्वयं श्रमणभगवान् श्री महावीर ने भी इस प्रकार कहा है—

"सव्वे पाणा पिया, सुहसाया, दुहपडिकूला, अप्पिय वहा, पिय-जीविणो, जीविउकामा। (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचण।"

अर्थात्—सर्व प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी है, दु ख सबको प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, जीवित सभी को प्रिय लगता है—सभी जीने की इच्छा रखते हैं। इसलिये किसीको मारना या कष्ट न देना चाहिए। अहिंसा के आचरण की आवश्यकता के लिये इससे बढ़कर और कोई दलील नहीं है—और कोई दलील हो ही नहीं सकती।

परन्तु यहां पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, इस प्रकार की अहिंसा का पालन सभी मनुष्य किस तरह कर सकते हैं। क्योंकि जैसा कि शास्त्रों में कहा है—

जले जीवा स्थले जीवा जीवा पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले जीवा सर्वं जीवमयं जगत्॥

अर्थात् जल में, स्थल में, पर्वत में, अग्नि में इत्यादि सब जगह जीव भरे हुए हैं—सारा जगत जीवमय है। इसलिए मनुष्य के प्रत्येक व्यवहारमें—खान में, पान में, चलने में, बैठने में, व्यापार में, विहार में इत्यादि सब प्रकार के व्यवहार में—जीवहिंसा होती है। बिना हिंसा के कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः इस प्रकार की सूक्ष्म अहिंसा के पालन करने का अर्थ तो यह हो सकता है, मनुष्य अपनी सभी जीवन क्रियाओं को बन्द कर, योगी के समान समाधिस्थ हो इस नर देह का बलात् नाश कर दे। ऐसा करने के सिवाय,—अहिंसा का भी पालन करना और जीवन को भी बनाये रखना, यह तो आकाश-कुसुम की गन्ध की अभिलाषा के समान ही निरर्थक और निर्विचार है। अतः पूर्ण अहिंसा यह केवल विचार का ही विषय हो सकता है आचार का नहीं।

यह प्रश्न यथार्थ है। इस प्रश्न का समाधान अहिंसा के भेद और अधिकारी का निरूपण करने से होगा। इसलिये प्रथम अहिंसा के भेद बतलाये जाते हैं। जैनशास्त्रकारों ने अहिंसा के अनेक प्रकार बतलाये हैं, जैसे स्थूल अहिंसा, और सूक्ष्म अहिंसा, द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसा, स्वरूप अहिंसा और परमार्थ अहिंसा, देश अहिंसा और सर्व अहिंसा, इत्यादि। किसी भी चलते फिरते प्राणी या जीव को जीजान से न मारने की प्रतिज्ञा का नाम स्थूल अहिंसा है, और सर्व प्रकार के प्राणियों को सब तरह से कष्ट न पहुंचाने की आचरण का नाम

सूक्ष्म अहिंसा है। किसी भी जीव को अपने शरीर से दुःख न देने का नाम द्रव्य अहिंसा है और सब आत्माओं के कल्याण की कामना का नाम भाव अहिंसा है। यही बात स्वरूप और परमार्थ अहिंसा के बारे में भी कही जासकती है। किसी अंश में अहिंसा का पालन करना देश अहिंसा कहलाती है और सब प्रकार—संपूर्णतया अहिंसा का पालन करना सर्व अहिंसा कहलाती है।

यद्यपि आत्मा को अमरत्व की प्राप्ति के लिये और संसार के सब बन्धनों से मुक्त होने के लिये अहिंसा का संपूर्णरूप से आचरण करना परमावश्यक है। बिना वैसा किये मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती। तथापि संसार निवासी सभी मनुष्यों में एकदम ऐसी पूर्ण अहिंसा के पालन करने की शक्ति और योग्यता नहीं आसकती, इसलिये न्यूनाधिक शक्ति और योग्यता वाले मनुष्यों के लिये उपर्युक्त रीति से तत्त्वज्ञों ने अहिंसा के भेद कर क्रमशः इस विषय में मनुष्य को उन्नत होने की सुविधा बतला दी है। अहिंसा के इन भेदों के कारण उसके अधिकारियों में भेद कर दिया गया है। जो मनुष्य अहिंसा का संपूर्णतया पालन नहीं कर सकते, वे गृहस्थ-श्रावक-उपासक-अणुव्रती देशव्रती इत्यादि कहलाते हैं। जब तक जिस मनुष्य में संसार के सब प्रकार के मोह और प्रलोभन का सर्वथा छोड़ देने की जितनी आत्मशक्ति प्रकट नहीं होती तब तक वह संसार में रहता हुआ और अपना गृहव्यवहार चलाता हुआ धीरे धीरे अहिंसाव्रत के पालन में उन्नति करता चला जाय। जहां तक हो सके वह अपने स्वार्थों को कम करता जाय और निजी स्वार्थ के लिये प्राणियों के प्रति मारन-ताडन-छेदन-आक्रोशन आदि क्लेशजनक व्यवहारों का परिहार करता जाय। ऐसे गृहस्थ के लिये कुटुंब देश या धर्म के रक्षण के निमित्त यदि स्थूल हिंसा करनी पड़े तो उसे अपने व्रत में कोई हानि नहीं पहु-

चती। क्योंकि जब तक वह गृहस्थी लेकर बैठा है तब तक समाज, देश और धर्म का यथाशक्ति रक्षण करना यह उसका परम कर्तव्य है। यदि किसी प्रानिवश वह अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होता है तो उसका लौकिक अध पात होता है, और नैतिक अध पात यह एक सूक्ष्म हिंसा है। क्योंकि इससे आत्मा की उच्चवृत्ति का हनन होता है। अहिंसा धर्म के उपासक के लिये निजी स्वार्थ—निजी लाभ के निमित्त स्थूल हिंसा का त्याग पूर्ण आवश्यक है। जो मनुष्य अपनी विषय तृष्णा की पूर्ति के लिये स्थूल प्राणियों को दुःख पहुचाता है, वह कभी किसी प्रकार अहिंसाधर्मी नहीं कहलाता। अहिंसक गृहस्थ के लिये यदि हिंसा कर्तव्य है तो वह केवल परार्थक है। इस सिद्धान्त से विचारक समझ सकते हैं कि, अहिंसाव्रत का पालन करता हुआ, भी गृहस्थ अपने समाज और देश का रक्षण करने के लिये युद्ध कर सकता है—लड़ाई लड़ सकता है। इस विषय की सत्यता के लिये हम यहां पर ऐतिहासिक प्रमाण भी दे देते हैं—

गुजरात के अन्तिम चौलुक्य नृपति दूसरे भीम (जिसको भोला भीम भी कहते हैं) के समय में, एक दफह उसकी राजधानी अणहिलपुर पर मुसलमानों का हमला हुआ। राजा उस समय राजधानी में हाजर न था—केवल राणी मौजूद थी। मुसलमानों के हमले से शहर का संरक्षण कैसे करना इसका सब अधिकारियों को बड़ी चिन्ता हुई। दण्डनायक (सेनाधिपति) के पद पर उस समय एक आभु नामक श्रीमालिक वणिक श्रावक था। वह अपने अधिकार पर नया ही आया हुआ था, और साथ में वह बड़ा धर्माचरणी पुरुष था। इसलिये उसके युद्धविषयक सामर्थ्य के बारे में किसीको निश्चित विश्वास नहीं था। इधर एक तो राजा स्वयं अनुपस्थित था, दूसरा राज्यमें कोई वैसा अन्य पराक्रमी पुरुष न था, और तीसरा, न राज्यमें यथेष्ट सैन्य ही था। इस

लिये राणी को बडी चिंता हुई। उसने किसी विश्वस्त और योग्य मनुष्य के पाससे दंडनायक आभु की क्षमता का कुछ हाल जान कर स्वयं उसे अपने पास बुलाया और नगर पर आई हुई, आपत्ति के सम्बन्ध मे क्या उपाय किया इसकी सलाह पूछी। तब दंडनायकने कहा कि यदि महाराणी का मुझ पर विश्वास हो और युद्ध संबंधी पूरी सत्ता मुझे सौंप दी जाय तो मुझे श्रद्धा है कि मैं अपने देश को शत्रु के हाथ से बाल बाल बचा लूगा। आभू के इस उत्साहजनक वचन को सुनकर राणी खुश हुई और युद्ध संबंधी संपूर्ण सत्ता उसको देकर युद्धकी घोषणा कर दी। दंडनायक आभु ने उसी क्षण सैनिक संघटन कर लडाई के मैदान में डेरा किया। दूसरे दिन प्रात काल से युद्ध शुरू होने वाला था। पहले दिन अपनी सेना का जमाव करते करते उसे संध्या हो गई। वह व्रतधारी श्रावक था इसलिये प्रतिदिन उभय काल प्रतिक्रमण करने का उसको नियम था। संध्या के पडने पर प्रतिक्रमण का समय हुआ देख उसने कहीं एकांत में जाकर वैसा करनेका विचार किया। परंतु उसी क्षण मालूम हुआ कि उस समय उसका वहांसे अन्यत्र जाना इच्छित कार्य में विघ्नकर था, इसलिये उसने वहीं हाथी के होदे पर बैठे ही बैठे एकाग्रता पूर्वक प्रतिक्रमण करना शुरू कर दिया। जब वह प्रतिक्रमण मे आने वाले—"जेमे जीवा विराहिया-एगिंदिया-बेइंदिया" इत्यादि पाठ का उच्चारण कर रहा था तब किसी सैनिक ने उसे सुन कर किसी अन्य अफसर से कहा कि—देखिए जनाब हमारे सेनाधिपति साहब तो, इस लडाई के मैदान में भी—जहां पर शस्त्रास्त्र की झनाझन हो रही है मारो मारो की पुकारें बुलाई जा रही हैं वहाँ—एगिंदिया बेइंदिया कर रहे हैं। नरम नरम सीरा खाने वाले ये श्रावक साहब क्या बहादुरी बतायेंगे। धीरे धीरे यह बात ठेठ रानी के कान तक पहुंची। यह सुनकर बहुत संदिग्ध हुई परन्तु उस समय अन्य कोई विचार करने

हिंसा जन्य पाप का स्पर्श बिलकुल नहीं होता और इस लिये उन का आत्मा इस पाप बंधनसे मुक्त ही रहता है। जब तक मनुष्य का आत्मा इस स्थूल शरीर में अधिष्ठाता होकर वास करता रहता है तब तक इस शरीर से ऐसी सूक्ष्म हिंसा का होना अनिवार्य है। परन्तु उस हिंसा में आत्मा का किसी प्रकार का संकल्प विकल्प न होने से वह उससे अलिप्त ही रहता है। महात्माओं के शरीर से होने वाली यह हिंसा द्रव्य हिंसा या स्वरूप हिंसा कहलाती है, भाव हिंसा या परमार्थ हिंसा नहीं। क्योंकि इस हिंसा में आत्मा का कोई हिंसक भाव नहीं है। हिंसा जन्य पाप से वही आत्मा बद्ध होता है जो हिंसक भाव से हिंसा करता है। जैनों के तत्त्वार्थ सूत्र में हिंसा का लक्षण बताते हुए यह लिखा है कि—

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'

अर्थात्—प्रमत्त भाव से जो प्राणियों के प्राण का नाश किया जाता है वह हिंसा है। प्रमत्तभाव का तात्पर्य है विषय-कषाय युक्त होकर, जो जीव विषय कषाय के वश होकर किसी भी प्राणी को दुःख या कष्ट पहुंचाता है वह हिंसा के पाप का बन्धन करता है। इस हिंसा की व्याप्ति केवल शरीर से कष्ट पहुंचाने तक ही नहीं है परन्तु वचन से वैसा उच्चारण और मन से वैसा चिन्तन करने तक है। जो विषय-कषाय के वश हो कर दूसरों के लिये अनिष्ट भाषण या अनिष्ट चिन्तन करता है वह भी भाव-हिंसा या परमार्थ-हिंसा करता है। और इसके विपरीत, जो विषय कषाय से रहित है, उसके द्वारा किसी प्रकार की हिंसा हो भी गई तो उनकी वह हिंसा परमार्थ से हिंसा नहीं है। एक व्यावहारिक उदाहरण से इसका स्वरूप स्पष्ट समझ में आ जायगा।

एक पिता अपने पुत्र को या गुरु अपने शिष्य की किसी बुरी प्रवृत्ति से रुष्ट हो कर उसके कल्याण के लिये कठोर वचन से या शरीर से उसकी ताड़ना करता है, तो वह पिता या गुरु लोकदृष्टि में कोई निन्दनीय

या दण्डनीय नहीं समझा जाता। क्योंकि पिता या गुरु का वह व्यवहार द्वेष-जन्य नहीं है। उस व्यवहार में सद्‌बुद्धि रही हुई है। इसके विपरीत जो कोई मनुष्य द्वेष वश हो कर किसी मनुष्य को गाली गलाच या मारपीट करता है, तो वह राज्य या समाज की दृष्टि में दण्डनीय और निन्दनीय समझा जाता है। क्योंकि वैसा व्यवहार करने में उसका आशय दुष्ट है। यद्यपि इन दोनों प्रकार के व्यवहारों का बाह्य स्वरूप समान ही है तथापि आशय भेद से उनके भीतरी रूप में बड़ा भेद है। इसी प्रकार का भेद द्रव्य और भाव हिंसादि के स्वरूप में समझना चाहिए।

वास्तव में हिंसा और अहिंसा का रहस्य मनुष्य की भावनाओं पर अवलम्बित है। किसी भी कर्म या कार्य के शुभाशुभ बन्धन का आधार कर्ता के मनोभाव ऊपर है। मनुष्य जिस भाव से जो कर्म करता है, उसी अनुसार उसे फल मिलता है। कर्म का शुभाशुभपना उसके स्वरूप में नहीं रहा हुआ है, किन्तु कर्ता के विचार में रहा हुआ है। जिस कर्म के करने में कर्ता का विचार शुभ है वह शुभ कर्म कहलाता है और जिस कर्म के करने में कर्ता का विचार अशुभ है वह अशुभ कर्म कहलाता है। एक डाक्टर किसी मनुष्य को शस्त्रक्रिया करने के लिये जो क्लोरोफॉर्म सुंघा कर बेहोश बनाता है उसमें और एक चोर या खूनी किसी मनुष्य को धन या जीवित हरन करने के लिये जो क्लोरोफॉर्म सुंघा कर बेहोश करता है उसमें कर्म की—[illegible] स किंचित् भी फरक नहीं है। परन्तु फल की दृष्टि से जब देखा जाता है, तब डॉक्टर को तो बड़ा सम्मान मिलता है और चोर या खूनी का भयंकर शिक्षा दी जाती है। यह उदाहरण जगत् की दृष्टि से हुआ। अब एक दूसरा उदाहरण लीजिए, जो स्वयं मनुष्य की अन्तरात्मा की दृष्टि में अनुभूत होता है। एक पुरुष [illegible] से [illegible]

प्रकार अपनी स्त्री से आलिंगन करता है, उसी प्रकार वह अपनी माता बहिन या पुत्री से आलिंगन करता है। आलिंगन के बाह्य प्रकार में कुछ भेद न होने पर भी आलिंगन कर्ता के आंतरिक भावों में बड़ा भारी भेद अनुभूत होता है। पत्नी से आलिंगन करते हुए पुरुष का मन और शरीर जब मलिन विकारभाव से भरा होता है, तब माता आदि के साथ आलिंगन करने में मनुष्य का मन निर्मल और शुद्ध सात्त्विक-वत्सल-भाव से भरा होता है। कर्म के स्वरूप में किंचित् फरक न होने पर भी फल के स्वरूप में इतना विपर्यय क्यों है, इसका जब विचार किया जाता है, तो स्पष्ट ही मालूम होता है कि, कर्म करने वाले के भाव में विपर्यय होने से फल के स्वरूप में विपर्यय है। इसी फल के परिणाम ऊपर से कर्त्ता के मनोभाव का अच्छा या बुरापन निर्णित किया जाता है, उसी मनोभाव के अनुसार कर्म का शुभाशुभ पना माना जाता है। अतः इससे यह सिद्ध होगया कि धर्म अधर्म—पुण्य—पाप—सुकृत-दुष्कृत का मूलभूत केवल मन ही है। भागवतधर्म के नारद पंचरात्र नामक ग्रंथ में एक जगह कहा गया है कि—

मानसं प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम् ।
मनोऽरूपं वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुटं मनः ॥

अर्थात् प्राणियों के सर्व कर्मों का मूल एक मात्र मन ही है। मन के अनुरूप ही मनुष्य की वचन (आदि) प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से उसका मन प्रकट होता है।

इस प्रकार सब कर्मों में मन ही की प्रधानता है। इस लिये आत्मिक विकास में सबसे प्रथम मन को शुद्ध और सयत बनाने की आवश्यकता है। जिसका मन इस प्रकार शुद्ध और सयत होता है वह फिर किसी के कर्मों से लिप्त नहीं होता। यद्यपि जब तक आत्मा देह को

धारण किये हुए है, तब तक उससे कर्म का सर्वथा त्याग किया जाना असमव है। क्योंकि गीता का कथन है कि—

' नहि दहमृता शक्य त्यक्तु कमण्यशेषत । '

तथापि—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रिय ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

इस गीतोक्त कथनानुसार—जो योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेंद्रिय और सर्व भूतों में आत्मबुद्धि रखनेवाला पुरुष है, वह कर्म करके भी उससे अलिप्त रहता है।

ऊपर के इस सिद्धात से पाठकों की समझ में अब यह अच्छी तरह आजायगा कि, जो सर्वव्रती—पूर्णत्यागी मनुष्य है उनसे जो कुछ सूक्ष्म कायिक हिंसा होती है उसका फल उनको क्यों नहीं मिलता। इसी लिये कि, उनसे होने वाली हिंसा में उनका भाव हिंसक नहीं है। और बिना हिंसक—भाव से हुई हिंसा, नहीं कही जाती। इसलिये आवश्यक महाभाष्य नामक आप्त जैन ग्रंथ में कहा है कि—

असुभपरिणामहेऊ जीवाबाहो त्ति तो मय हिंसा ।
जस्स उ न सो निमित्त सतो वि न तस्स सा हिंसा ॥

अर्थात् किसी जीव को कष्ट पहुचाने में जो अशुभ परिणाम निमित्त भूत है तो वह हिंसा है, और ऊपर से हिंसा मालूम देने पर भी जिस में वह अशुभ परिणाम निमित्त नहीं है, वह हिंसा नहीं कहलाती। यही बात एक और ग्रंथ में इस प्रकार कही हुई है —

ज न [illegible] मणिओ बवो जीवस्स वहेवि समिइगुत्ताण ।
भावो तत्थ पमाण न पमाण कायवावारो ॥
(धर्मरत्न मजूषा, पृ ८३२)

अर्थात् समिति—गुप्तियुक्त महाव्रतियों से किसी जीव का वध हो जाने

पर भी उसका उनको बन्ध नहीं होता क्योंकि बन्ध में मानसिक भाव ही कारणभूत है—कायिक व्यापार नहीं। यही बात भगवद्गीता में भी कही हुई है। यथा —

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

अर्थात् जिसके हृदय में से 'अहंभाव' नष्ट हो गया है और जिसकी बुद्धि अलिप्त रहती है वह पुरुष कदाचित् लोकदृष्टि से लोगों का—प्राणियों को मारने वाला दीखने पर भी न वह उनको मारता है, और न उस कर्म से बद्ध होता है।

इसके विपरीत जिसका मन शुद्ध और संयत नहीं है—जो विषय और कषाय से लिप्त है वह बाह्य स्वरूप से अहिंसक दीखने पर भी तत्त्व से वह हिंसक ही है। उसके लिये स्पष्ट कहा गया है कि—

अहणन्तो वि हिंसो दुट्ठत्तणओ मओ अहिमरोव्व।

जिसका मन दुष्ट—भावों से भरा होता है वह किसी को नहीं मारता भी हिंसक ही है। इस प्रकार जैनधर्म की अहिंसा का संक्षिप्त स्वरूप है। (महावीरस उद्धृत)

सप्तक्षेत्र

क्षेत्रेषु सप्तस्वपि पुण्यवृद्धये, यथेष्टतः सम्प्रतिराजवद्धनी।

[illegible] ॥ १ ॥

अर्थ—धनवान मनुष्यको चाहिये, कि संपति नरेश, की तरह पुण्यकी वृद्धिका इच्छासे अर्थात् धर्मकी पुष्टिके लिये सात क्षेत्रोंमें धन व्यय करे, इस पर यह तर्क हो सकती है कि खेती करने वाला (कृषक) क्या चावल ही बीजता है ?

नहीं नहीं सर्वही प्रकारके धान्योंको बीजता है। दृष्टान्तके तौर पर

किसी नगरमें कोइ एक कोटिध्वज 'शाहुकार रहता था, उसने अपने अंत समयमें गामके चार प्रतिष्ठित पुरुषोंको बुलाकर अपनी सम्पत्ति सौंप दी और कहा कि तुमको विश्वास पात्र समझ कर आपको पूंजी देता हूं। तत्पश्चात् मैं अपने अभीष्टको आप लोगोंके समक्ष प्रकाशित करता हु, कि मेरे सात पुत्र हैं। और उनके पालन पोषण के निमित्त उपयुक्त पूंजी तुम्हारे अधिकारमें अर्पण की जाती है, तुमको सर्वथा उचित है कि मेरी सम्पत्तिका अनुचित रीतिसे दुरुपयोग न करो, केवल इस सचित पूंजी को मेरे निय अंगजों के पालन पोषण में ही व्यय करके उनको सदाके लिये हयात और आबाद रक्खें।

[उपनय घटना] संसार यह एक तरहका नगर है, वीर परमात्मा शाहुकार हैं। उन्होंने अपने निर्वाण के समय अपनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप अनंत सम्पत्ति श्रीसंघको सुपुर्द करके कहा कि हमारे बतये हुवे अर्थात् हमारे स्थापन [कायम] किये हुये जिनबिम्ब १ जिनचैत्य २ सम्यग् ज्ञान ३ साधु ४ साध्वी ५ श्रावक ६ श्राविका ७ इन सात क्षेत्ररूप पुत्रोंका तुम सदा पालन, पोषण, रक्षण और निरीक्षणा करना, इन सात ही क्षेत्रोंका समान दृष्टिसे बचाव करना। इन सात क्षेत्रोंको मेरे निज पुत्र समझ कर समान भावसे पालना, और उत्पात, उपद्रवोंसे रक्षा करते रहना। गुणकारी, उपकारी, सहायक सामग्रीसे इन्हें उन्नत करना। आशय यह है कि इनमेंसे किसीको भी न्यूनाधिक समझ कर बिलकुल घटाना बढाना नहीं, किसी पर भी भावकी न्यूनाधिकता न रखते हुवे, सबको मेरे ही शरीरके अंगभूत मानना। इससे हमारा यह आशय नहीं कि देव द्रव्य ज्ञान द्रव्य साधु साध्वी, या श्रावक श्राविका खाजावे।। ऐसा होना तीर्थंकर गणधरों की आज्ञासे साफ विरुद्ध है। हमारा आशय यह है कि हिन्दुस्थानमें आजकल ३६ हजार जिनमंदिर गिने जाते हैं। हरएक समझदार समझ सकता है कि--

जिनप्रतिमाकी पूजा में धूप–दीप–चंदन–बरास–वास–वाला–कुची–अगरबत्ती–पंचामृत–कलस–थाल रकेबी चामर चंद्रवा–पूठिया चौका–पानी–पूजारी–आदि अनेक वस्तुयें चाहिये, यह संसारवर्धक जैन जानते हैं। आक और धतूरेसे जिनप्रतिमा कहीं नहीं पूजी जाती। ३६ हजार मंदिरों की पूजाके लिये कमतीमें कमती प्रति मंदिर १०० रुपया सालाना भी गिना जाय तो भी हिसाब गिननेसे ३६ लाख रुपया वार्षिक खर्च मंदिरोंका आता है यह कार्य जैन समाजकी भक्तिसे उनकी उत्कृष्ट भावना से सहज हो रहा है, तथापि प्रतिवर्ष नये मंदिरोंकी टिप्पणियाँ तथा मार उपराउपरी आ रही हैं, इससे अधिक लाभ क्या सो हमारी समझमें नहीं आता। जहाँ १० घरोंकी जैनवस्ति है वहाँ ५००० हजारके खर्चसे मंदिर बनवाया जाता है। उस कार्यमें अनेक गामोंको दाक्षिण्यतासे कहने कहानेसे साधुओंकी सिफारशोंके कारण इच्छा न होने पर भी पैसा देना पड़ता है। इसके बदले जिस गाममें एक जिनमंदिर है वहां उसीकी रक्षाभक्ति नहीं होती तो दूसरा क्यों बनवाया जाता होगा? जो रुपया उस दूसरे मंदिरमें खर्च करना है वह उस पहले मंदिरके निर्वाहके लिये जमा करके उसके व्याज वगैरहसे मूलमंदिरकी आशातना का परिहार क्यों न कराया जाय? हमने गतवर्ष अनुभव करके देखा कि एक गाममें दो मंदिर हैं वहां प्रतिदिन १० आदमी भी पूजा नहीं करते होंगे इतनेमें वहां दो तीन और बन रहे हैं। सुना गया है कि उन मंदिरोंके तयार होनेमें करीब १॥ लाख रुपया खर्च होगा ऐसी हालतमें इन्साफ की दृष्टिसे देखा जाय तो श्रावक श्राविका रूप दोनों क्षेत्रोंकी कैसी हालत होरही है उधर कोई ख्याल देता है? अगर श्रावक श्राविका ही नहीं रहेंगे तो उन तुम्हारे बनवाए मंदिरोंको पूजेगा कौन?

दूसरे धर्मों तरफ दृष्टिपात करते हैं तो साफ तौर पर मालूम होता है

कि जो लोग आजसे २० वर्ष पहले हजारोंकी संख्यामें थे वह आज लाखोंकी संख्यामें आगये और जैन प्रजा करोडोंकी संख्यामेंसे लाखोंमें आगई। अब यह भी सोचनका विषय है कि जिस धर्ममें विद्या नहीं, जिसमें ऐक्य नहीं, जिसमे कोई नायक नहीं, जिसका आनेका मार्ग रुक गया है और जाना हमेशा जारी है उस धर्मकी, उस समाज या—मन संख्या बढ़ती कैसे हो सकती है ? घटती की तो बात ही दर किनार इसी मूर्तिपूजाकी ही हानि होरही है

सदर सूरतमें व्याख्यान देता हुए विदुषी एनीबेसेन्टने कहा था कि— "यद्यपि जैनधर्म पवित्र और प्राचीन है तथापि आज कलकी उसकी छिन्नभिन्न दशाको देख कर बुद्धिबलसे मालूम होता है कि यह धर्म १०० वर्षसे ज्यादा दुनियामें नहीं टिकेगा " आज हम उस बात का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। दस वर्ष पहले जो मर्दुमशुमारी हुई थी उस वक्तमें और आज की संख्यामें १००००० आदमी की कमी हुई है। ४०००० मनुष्य सिर्फ मुंबई इलाकेमेंसे घटे हैं। इस अवस्थामें तो प्रथम पहल श्रावक श्राविका रूप क्षेत्रकी सार संभाल करना चाहिये।

॥ जिनबिम्ब ॥

"बिम्बम् महल्लघु च कारितमत्र विद्युम्नाद्यादिवत् परमवेऽपि शुभाय जैनम्। प्यादुल्लघुपुरीप्लिनदायिमत्रयणाद्दोप्याप्यापि धनविध्यापि न किं स्यात्॥२।

इस लोकमें छोटा या बडा एक भी जिन बिम्ब कराया हाय, तो वह विद्युन्माली देवताको जैसे कल्याणका कारण हुआ वैसे सब भव्यात्माओं का हो सकता है। प्रसिद्ध बात है कि बडा इष्टफल देनेवाला मंत्र ध्यान करनेवालेके दरिद्र को दूर नहीं करता अर्थात् करता है।

(विशेष विवेचन)

संसारके प्रत्येक ग्राम, नगर या जनपदमें रहनेसे सकती

है कि कोई किसी प्रकारसे और कोई किसी प्रकारसे परन्तु संसार की पृथ्वी पर मनुष्यमात्र, सम्प्रदायमात्र, मूर्तिपूजक, बुतपरस्त है। जो लोग जाहिरी तौरसे बुतपरस्ती को बुरा भी समझते हैं उनके घरों में उनकी सामाजिक संस्थाओं में उनके धार्मिकग्रन्थों पर, उनके पूज्यगुरुओंकी मूर्तियां दीख पड़ती हैं। दृष्टान्तके तौर पर समझिये, कि आर्यसमाज लोग मूर्तिपूजाके कट्टर विरोधी हैं, परन्तु उनके विद्यालयोंमें, उपदेशभवनोंमें "स्वामी दयानन्दजीके" फोटो भीतों पर लटकाए हुए मिलते हैं। वह लोग व्याख्यान देते समय बड़े आदर भावसे पूज्यबुद्धिसे हाथ लम्बा लम्बा कर बताते हैं, कि यह "सत्यधर्मके प्रचारक" यह मिथ्यावादोंके निवारक यह "संसारके उद्धारक" स्वामी दयानन्दसरस्वती अपने बनाये हुए अमुक ग्रन्थके अमुक पृष्ठ पर यह बात लिखते हैं।"

अब समझना चाहिये कि जिस मूर्तिके सामने हाथ लम्बाया जाता है, जिसे स्वामीजीके इशारेसे बताया जाता है, वह क्या स्वामीजीकी देह है? क्या वह स्वामीजीका रूप है? क्या उसमें स्वामीजीकी आत्मा विराजमान है? उससे किसी किसमकी स्वामीजीकी गरज सर सकती है? नहीं किसी तरह भी नहीं इसी। प्रकार संसारके सम्पूर्ण सम्प्रदायोंमें किसी न किसीरूप मूर्तियोंका मानना सिद्ध है। जैन, बौद्ध शैव वैष्णव सभी प्राचीन सम्प्रदाय मूर्तियोंके पूजक हैं। उसमें विशेष कर जैनधर्म में मूर्ति पूजा बड़े आदर सत्कारसे की जाती है। परन्तु इतना तो अवश्य कहना पड़ेगा कि जैनसम्प्रदाय मूर्तिको मूर्तिमान कर पत्थरके पुतले मानकर नहीं पूजता किन्तु वह जिस देव या गुरु की मूर्ति है उसकी अनुपस्थितिमें उसको उस मूर्तिके द्वारा स्मरण करके उसमूर्तिवालेके गुणोंका पूजक है। न कि सामने दिख रहे उन पुतलों। उस मूर्तिके द्वारा मूर्तिवाले महात्माकी जीवन चर्याको स्मर्ण करके उन अतीतकालकी घटनाओंको हृदयमें स्थान देकर

व दरमानावी यह मूर्ति है उसने फलाने फलाने वक्त उस अपने वजूदके जरिए फलाना फलाना उत्तमकार्य करके समाज और देशको ऋणी किया तथा जैसे कि कव्वाली

दीक्षा प्रभूकी जोय जग पुण्यवन्त प्राणी (अचली)
जग सामाजिक नरना करो अम जन्म फन्दा
कुमुद्द वाले वाणी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥ १ ॥
परभूर मोह करियो, दालिद्र दूर हरियो ।
भिम हाथ वरसी दानी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥ २ ॥
पहुच बहिर नगरिया, वरघोडस उतरिया ।
आश्रम पद उद्यानी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥ ३ ॥
अशोक वृक्ष हेठे, भूषण तजाइ वैठे ।
अट्ठम तप मानी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥ ४ ॥
महामत धार उचार, वदि पोष मास सुधारे ।
एकादशी सुहानी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥ ५ ॥
परिवार शत तीनो, देवदूष्य इन्द्र दीनो ।
प्रभु होय तूष ज्ञानी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥ ६ ॥
नदीधर सुर आवे, माता पिता घर आवे ।
काउसग्ग थिर ध्यानी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥ ७ ॥
आगम आनंद दाता, पार्श्व प्रभु है त्राता ।
वाइम धार आनी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥ ८ ॥

प्रभुकी पूजा करते हुए गुण [illegible] ध्यानमें [illegible] कि यह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । हे प्रभो हम भारत [illegible] [illegible] आप [illegible] [illegible] [illegible] हम हमारे [illegible] [illegible] [illegible] मौका मे मज्जा [illegible] बताया है हम [illegible] म [illegible] आप [illegible] [illegible] है । इसी तरह [illegible] ही [illegible] पूजा [illegible] [illegible] [illegible]

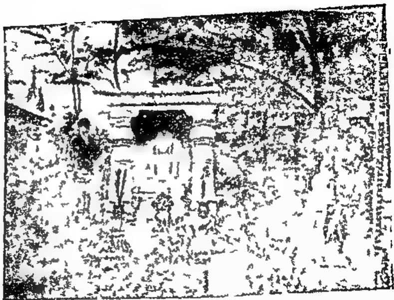
चाहिये उस भावनाके सूचक दोहे प्रायः सर्वत्र जैन सम्प्रदायमें प्रसिद्ध हैं। जैसे कि—

> जलभरी संपुटपत्रमें, युगलिक नर पूजन्त ।
> ऋषभ चरण अंगूठडो, दायक भवजलअंत ॥ १ ॥
> जानुबले काउसग्ग रह्या, विचर्या देशविदेश ।
> खडे खडे केवल लह्या, पूजो जानु नरेश ॥ २ ॥

इत्यादि परन्तु बहुत लोग पूजाके समय इन दोहोंको बड़े ऊँचे स्वरसे गाते हैं, ऐसा होना अनुचित है। पूजा मौनसे ही होना चाहिये। जैनदर्शनमें श्रद्धाबुद्धिसे जिनबिम्ब तय्यार करवानेके लिये प्रबल पुण्यका होना माना गया है, जैसे कि—

"अंगुष्ठमानमपि यः प्रकरोति बिम्बम्, वीरावसानवृषभादिजिनेश्वराणाम्। स्वर्गे प्रधानविपुलर्द्धिसुखानि भुक्त्वा पश्चादनुत्तरगतिं समुपैति धीरः ॥१॥"
जो गंभीर मनुष्य श्रीऋषभदेवसे लेकर श्रीमहावीर स्वामीपर्यंत २४ तीर्थंकरदेवोंकी अंगुष्ठ जितनी भी प्रतिमा बनवाता है वह स्वर्गमें अ-सत्य सुखभोग कर पीछे मोक्षसुखका भागी होता है।

भरतचक्रवर्तीने रत्नमयी अपनी अंगूठीमें हीरेकी प्रतिमा रखी थी। गुजरातके प्रख्यात नरेश भीमदेवके प्रधानमंत्री विमलकुमार भी अपनी मुद्रिकामें जिनप्रतिमा रखकर राजदरबारमें आया करते थे। मथुरा नगरीमें जिस समय जैनधर्मका राज्य उदय था, उस समय वहांके लोग अपने घरोंके दरवाजों पर भी जिनप्रतिमाकी स्थापना किया करते [illegible]। कहां तक कहा जाय? देवता लोग जब देवभूमि (स्वर्ग) में पैदा होते हैं पहिले ही जिनप्रतिमाकी वंदना पूजना करते हैं। सम्प्रति [illegible] जो कि चन्द्रगुप्त राजाके पश्चात् अशोकश्रीके पौत्र थे, उन्होंने सवा क्रोड़ जिनप्रतिमायें बनवाई थीं। जिनमें से आज भी कई एक उस समयकी प्रतिमायें मारवाड़के अन्यान्य प्राचीन स्थानोंमेंसे निकलती नजर आती हैं। जैसे अहिल्या



अष्ट्रियाके अन्तर्गत हंगरी प्रान्तके बुडापेस्त शहरमें एक अंग्रेजके बगीचेमें
खोदते हुए निकली हुई महावीरकी प्रतिमा

इसमें हंगारीप्रांतके " बुडापेस्त " शहरमें श्रीमन्महावीरस्वामीकी प्रतिमा निकली है [इसके विशेषवर्णनके लिये मेरा लिखा " गिरिनार स्तूप" और ' समतिराजा " नामक पुस्तकोंका देखना जरूरी है]

मूर्तिपूजकोंकी सख्या	मूर्तिनिषेधकोंका सख्या
बौद्ध ५८००००००	यहुदी १२२०००००
केथालिक १०००००००	प्रोटेस्टट १७१६०००००
ग्रीक १००००००००	पारसी १०००००
हिंदु २११७०००००	मुसलमान २२१८०००००
जैन १०००१००	डूक्कन्गा १०००००
एनिमिष्ट ५०२०००००	ब्रह्मप्रार्थनासमाज ५५००

सिख लोग भी गुरुओंकी मूर्तियों पूजा करते हैं ।

इधर थोडे पहिले एक महानुभावने सरस्वतीमें " भारतकी मूर्ति कारी-गरी " इस विषय पर लेख लिखकर बहुतसी नवीन जाननेलायक बातों का दिग्दर्शन कराया था । उनके कुछ सरल भरल और उपयोगी ग-द्योंको यहां उद्धृत किया जाता है । 'भारतवर्षकी प्राचीन शिल्पकलाका घ-निष्ट सबंध ' धर्म ' से सबदा रहा है । प्राचीन भारतके चित्रकार तथा मूर्तिकार अपनी २ विद्या तथा कलाकौशल्यका उपयोग ससारके साधा-रण वस्तुओंके सबधमें न करते थे । भारतीय चित्रकार तथा मूर्तिकारोंका उद्देश देवताओंके चित्र तथा मूर्तियें बनाना है । प्राचीन भारतवर्षकी जितनी मूर्तियां अभी तक मिली हैं, प्राय सबकी सब या तो किसी देवता या महापुरुषकी हैं । या अन्यधर्मसबंधी घटनाओंके आधार पर बनाई गई हैं । भारतवर्षमें प्राचीन मूर्तिकामोंके " इतिहास "का आरभ अशोक के समयसे हुआ हो, और अन्त मुसल्मानोंके समयसे हुआ हो, ऐसा समज तथा सिद्ध है ।

अथात् ईसाकी तीसरी शताब्दीसे लगाकर ईसाके बाद बारहवीं

हुई है। ऐसे ही " रानपुर " केपास ' मथुर ' ग्राममें [illegible]
नाथ की मूर्ति है, जो आजसे असंख्य वर्ष पहिलेकी हुई
कता है। श्रवणबेल्गुलके इतिहासोंसे पता लगता
कि वहांका राज्य जैनधर्म की चिरकालसे उपासना करता था। जैन
उपदेशकोंका परिचय न रहनेसे वहांके किसी एक राजाने जैनधर्मका [illegible]
कर अन्यधर्मका पालन करना शुरू कर दिया, और जो जो [illegible]
रमणके लिये पूर्वराजाओंकी ओरसे जागीरें भेट की हुई थीं, वह
उसने जप्त कर ली। दैवयोग वहां भूकम्प हुआ, बहुतसे [illegible]
हानी होगई। इससे राजाके मनमें शंका उत्पन्न हुई कि मैंने चिरप्राचीन
जैनधर्मको छोड़ दिया है इसी कारण मेरे राज्यकी दुर्दशा हुई है। यह
फिर शास्त्रवचनोंका भक्त होकर जिनधर्मकी उपासना करने लगा, और
स्वाधीन की हुई संपत्ति भी जिनचैत्योंको भेट कर दी। इस प्रकार वि-
शेष जानके लिये " सनातन जैन पुस्तकोंका अंक तीसरा " देखो। इस
से इतना ही आशय लेनेकी आवश्यकता है, कि पूर्वकालमें [illegible]
राष्ट्रीय धर्म था। राजा तथा प्रजा सभी इसके अनुयायी थे। राजा
' शिवप्रसाद सितारेहिन्द ' ने जैन न हो कर भी अपने निर्माण किये
हुये " भूगोलहस्तामलक " में लिखा है कि दो ढाइ हजार वर्ष पहिले
दुनिया का अधिक भाग जैनधर्मका उपासक था।

जिनचैत्य (जिनमंदिर)

" रम्य येन जिनालयं निजभुजोपात्तेन कारापितं,
मोक्षार्थं स्वधनेन शुद्धमनसा पुंसा सदाचारिणा।
वद्यं तेन नरामरेन्द्रमहितं तीर्थंकराणां पदम्,
प्राप्तं जन्मफलं कृतं जिनमतं गोत्रं समुद्योतितम् ॥

अर्थ—जिस शुद्धमनवाले सदाचारी मनुष्यने अपने हाथ [illegible]

हुए धनसे आत्मकल्याणके निमित्त जिन मन्दिर बनवाया है, उसने संसारमें सारभूत तीर्थंकर पद प्राप्त किया माना जाता है। उसने अपने जन्मका फल प्राप्त कर लिया, और अपने गोत्रको परम पवित्र करनेके साथ जिनशासनको उन्नतिके शिखर पर पहुंचाया।

विशेष वर्णन।

अपने रहने बैठनेके लिये सकाल, माले, आल्ने, घासले, कौवे, चिडियें, शुक, तीतर इत्यादि पक्षि गण भी बना लेते हैं। मनुष्य तो सर्वोत्कृष्ट शक्ति और ज्ञान सपन्न माना जाता है यदि वह अपने निवासका स्थान बना ले, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु भाग्यवान वही माना जाता है कि जो अपनी शक्तिके अनुसार "जिनचैत्य" निर्माण कराके न्यायोपार्जित लक्ष्मीको सफल करे। आचार्य श्री बप्पभट्टि सूरिजीने ग्वालियरके आम राजा पर महान उपकार किया था। अतएव राजा पुन पुन उनकी भावभक्ति करनेमें तत्पर रहता था, बल्कि बप्पभट्टि सूरिजीकी सूरिपद प्रतिष्ठाके समयमें भी, भूपति स्वयं उपस्थित हुआ था। और जैनशासनमें आगेवान बनकर अपने कोषमेंसे एक करोड सोनामोहरा खर्च कर उसने वि स ८११ में आचार्य महाराजका पदमहोत्सव किया था।

एक समय सूरीश्री महाराजने ग्वालियर नगरकी तर्फ प्रस्थान किया, और वहां जाकर राजाको उपदेश देना आरंभ किया, उपदेश देते समय सूरिजीने यह कहा कि—

श्रिरिय पुन्यान् मा' कुर्वत निश्किंकरान्।

कुर्वत किंकरी ता य तेरसा रत्नस्' रमा ॥ १ ॥

अर्थ—विशेषकर लक्ष्मी ने मनुष्योंको अपना किंकर ता बना ही रखा है, लक्ष्मी के मदसे मोहित होकर मनुष्य अपने कर्तव्योंसे पराङ्मुख तो हो ही रहा है। तथापि जिन पुण्यात्माओंने, अपने

आरेनमें चलाया है, अर्थात् जिसने लक्ष्मीको अपनी इच्छानुकूल व्यय किया है, उससे यह पृथ्वी रत्नप्रसू कही जाती है।

इस उपदेशको सुन कर राजाने साढे तीनकोड सोनामोहरें गल्य. सबकी अनेक प्रतिमायें बनवाई और उस विशाल मन्दिर, कि जिसमें यह प्रतिमायें स्थापन की गई थीं, को रम्यरूप बनानेमें २१ लक्ष सोना मोहरें व्यय की और सवा लाख सौनैया खर्च करके उन्होंने मूल मंडप का रिपेर काम कराया। आचार्य महोदयके उपदेशसे राजाने शत्रुंजय गिरिनारके मन्दिरोंका जीर्णोद्धार भी कराया (देखो उपदेश तरंगिणी) कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिजीके उपदेश से जिनागम प्राप्त करके बाद स्वयं मुक्तदीपक महाराजकुमारपालने तारगाजी और तमाम प्रमुख स्थानोंमें १००० नवीन जिनमंदिर बनवाये थे। अपने पिता त्रिभुवनपालके नामसे पाटणमें उन्होंने "त्रिभुवनपालविहार" नामक (पुर) बहत्तर देव कुलिका सहित विशाल मंदिर बनवाया था। उस परमाहत ने २४ सोनेकी २४ रत्नकी, चौबीस पीतलकी इत्यादि अनेकानेक जिनप्रतिमा बनवाकर उस महा मन्दिरमें स्थापन कीथीं १२५ अंगुलप्रमाण अरिष्टरत्नकी प्रतिमा श्रीनेमिनाथ स्वामीकी बनवाकर मूलनायक पद स्थापन की थी। इस मन्दिरके बनवाने में ९ क्रोडअशर्फियाँ खर्चकर पुण्यांधिक भूपालने जिन शासनकी और अपने पूज्य पिताकी प्रमुख सेवा बजाई थी। उस मन्दिरमें उदयन, आम्रदेव, कुबरदत्त, अभय कुमार और बाहडदेव आदि अठारह मुख्य मुख्य धनपति श्रावक नीतगान नृत्यादि ठाठ पूर्वक नित्यधर्म क्रिया किया करते थे। इस मंदिर को कुमार पालके उत्तराधिकारी अजयपाल ने नष्ट कर दिया था, इस मंदिर की नीवमें से जो पाषाण की विशाल शिला निकली हैं उन्हें हमने अपनी नजरसे देखा है वे सब "गायकवाड" सरकारके स्वाधीन हैं वरन् उनशिलाओंसे अनेक मंदिर तयार, या रिपेर हो सकते थे।

उपदेश तरंगीणीमें लिखाहै, कि सम्प्रतिराजा तीनखंड भरतक्षेत्रका वि-

जय करके सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं को अपनी आज्ञा मना कर उन सर्व भूपतियोंसे परिवृत हो कर उज्जयणीमें आया, तब लोगोंने सब आडम्बर पूर्वक उसका प्रवेशोत्सव कराया। सब राजा प्रजाको यथोचित प्रीति दान देकर सबके उतारा की व्यवस्था कर अब अपनी पूज्य माताको प्रणाम करने गया तब माताने उसके आनेपर किसी भी प्रकारका हर्ष प्रकट न किया। सम्प्रति ने फिरसे नमस्कार कर के पूछा, पूज्य माता आज भरत क्षेत्र को स्वाधीन करके मैं कई वर्षोंसे तुम्हारे चरणोंमें आया हूँ तथापि तुम्हारे चेहरे पर जैसा चाहिये वैसी खुशी न देख कर मुझे मेरे किसी अपराधकी आशंका होती है। परन्तु बारम्बार स्मरण करनेपर भी मुझे मेरा कोई दोष याद न आनेसे हृदय बड़ा व्याकुल हो रहा है। अगर अज्ञानता से भी कोई दोष मुझसे हुआ हो तो आप पुत्रवत्सला हो मुझे क्षमा प्रदान करो। माताने गम्भीर स्वरसे जवाब दिया, पुत्र भाग्य से संसारमें पूरा पुण्यवान है। तेरी भाग्यरेखा प्रतिदिन बढ़ती है, तेरा कीर्ति यह मेरी ही कीर्ति है, परन्तु "नरकान्तम् राज्यम् स्मृतम्" इस वाक्यको भूल कर तेरा मन आरम्भमें मशगूल है यह मेरी उदासीका कारण है। अगर तू दिग्विजय के रास्तेमें प्रतिग्राम प्रति नगर एक २ चैत्य भी बनाता रहता तोभी तेरा आरम्भजन्य पाप अल्प होता रहता, और मुझे तेरा मुख देख कर खुशी भी होती। इस बातको सुनकर राजाने निमित्तियोंको बुलाकर पूछा मेरा आयु कितने वर्षोंका है? निमित्तियोंने राजाका आयु १०० वर्षका बतलाया। राजाने आज्ञा दी कि १०० वर्षके ३६००० दिन होते हैं, मेरे आयुके दिनों जितने जिन चैत्य मेरे राज्यमें तैयार होने चाहिये।

मन्त्रियोंने वैसा ही करना शुरू किया। प्रसिद्ध है कि—क्रमसे कम एक मन्दिर रोज नवीन तयार कराके राजा अपनी माताके चरणोंमें वन्दना किया करता था, और नया समाचार दे कर उनके आदेशका पालन

किया करते थे। लिखा भी है कि " भवन्तिहि महात्मानो गुर्वाज्ञा-नुवर्त्तिनः "।

सोलहवीं शताब्दीमें रत्नमण्डणगणिने ' उपदेशतरंगिणी ' नामक ग्रन्थ बनाया है वह अपने सत्तासमयमें लिखते हैं कि वर्तमान समयमें भी सिन्धुदेशके मरोटपुरमें सम्प्रति राजाकी बनवाई ८५ हजार पीतल की प्रतिमायें मौजूद हैं।

तपगच्छनायक श्री धर्मघोषसूरिजी के उपदेशसे पेथडशाह और उनके लडके झांझण शाहने विक्रम संवत् १३२० में " जीरावला " पार्श्वनाथ " शत्रुंजयगिरि " वगैरह तीर्थोंपर (८६)जिनमंदिर बनवाये थे, और उन सब मंदिरोंके शिखरों पर सोनेके कलस चढाये थे। इतना ही नहीं बल्कि " दौलताबाद " " ओंकारपुर " वगैरह नगरोंमें अन्य-दर्शनानुयायी लोग धर्मद्वेषके कारण मंदिर नहीं बनाने देते थे, पेथड-शाह समझते थे कि इन इन स्थानों में मंदिरों का होना खास लाभका कारण है। इस लिये उन्होंने खुद वहां जाकर उन गाम नग-रोंके राजाओंके मंत्रिओंके नामसे दानशालायें जारी करदी, यथेच्छ खान पान मिलनेसे देश देशान्तरके याचक लोग मंत्रिओंका यश गाने लगे। मंत्रियोंने सोचा कि हमने तो किसीको कुछ दिया नहीं। यह सब याचक हमारी कीर्ति गा रहे हैं इसमें कोई खास कारण होना चाहिये। तलाश करने पर मालूम हुआ कि " मांडवगढ " का राजमान्य पेथडशाह मंत्री यहां आया हुआ है, उसने अपनी सज्जनतासे हमको यशस्वी बना दिया है। इस लिये हमको भी चाहिये कि उस पुण्यात्माकी योग्यताके अनुसार उसे इच्छित देकर सन्मानित करना, और अपने सिरचढे हुए ऋणको उतारना। यह सोचकर उन्होंने बडी प्रतिष्ठापूर्वक पेथडशाहको अपने पास बुलाया। बहुत कुछ मानसन्मा-न देकर कहा " आप जैसे धर्ममूर्ति-पुण्यात्माओंका और

ही असीम उपकारका कारण है, तो फिर हमारे नामकी दानशालाएँ, खोल कर निष्कारण यश और कीर्तिके भागी बनाकर आप हमको अति ऋणी क्यों बना रहे हैं ? भला हम इस आपके उपकाररूप बोझेको कैसे उतार सकेंगे ! संसारमें उपकारके बदलेमें प्रत्युपकारके करनेवाले तो जगह २ सुलभ हैं परंतु बिना ही प्रयत्नके किये परका हित करनेवाले और उसमें भी कीर्ति अन्यको दिलानेवाले मनुष्य अन्वेषणा जगत्में हैं या नहीं, और हैं भी तो कोई आप जैसे विरले ! ! ! धन्य है आपके जन्म और जीवितको !

" आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन्, को न जीवति मानव ? ।
" परं परोपकारार्थं, यो जीवति स जीवति ॥ १ ॥
" परोपकारशून्यस्य, धिग्मनुष्यस्य जीवितम् ।
" जीवन्तु पशवो येषां, चर्माप्युपकरिष्यति ॥ २ ॥

अपनी जीवन वृत्ति के निर्वाहके लिये जीवमात्र अनेकानेक उपाय कर रहे हैं, कोई खाता है, कोई पढ़ता है, कोई बुनता है, कोई तनता है, कोई खरीदता है, कोई बेचता है, एक दाता है, अन्य ग्राहक है, किसीका किसीकी वाणिज्यसे, अनेकोंकी अन्नसे, अनेकोंकी इंधनसे, भेषजसे, कईयोंकी खेतिसे, कईयोंकी वनसे, आजीविका चल रही है । जौहरी जवाहरात के, बजाज बजाजीके, शराफ शराफीके, परीक्षक परीक्षाके, दलाल दलालीके, एवं अदनासे अदना और बडेसे बडा जीवमात्र अपनी अपनी क्रियासे आजीविका करता है, यह सर्व क्रियाएँ मनुष्य अपनी जीवनचर्याके निर्वाहके लिये करते हैं । संसारमें ऐसा कोइभी जीवात्मा है कि जिसकी प्रवृत्ति अपने जीवननिर्वाहके लिये न हो ! हाँ यह बात एक और है कि–किसीको असीम संपत्ति होते भी जलन बलन लगी ही रहती है, और कोई स्वल्प लाभसे भी संतुष्ट रहता है । मम्मण शेठ, बल्कि अनजोंकी संपत्तियोंके होते हुए भी आर्त्तरौद्रसे दिन गुजारता था, और पूनिया श्रावक

कारण ? दुर्जनकी जगह मे भी सन्तोष मानता था । परन्तु प्राणीमात्र
प्रायः आत्माभिमत स्वार्थके साधन में प्रवीण होते है । ऐसा कोई
ही पुरुष भाग्यही होगा जो अपने स्वार्थ को मनसे भी भूलकर परका
उपकार साधन करता हो । जगतमें शुभजीवन उसी पुण्यात्माका है
जो परोपकार के लिये जीता हो ॥ १ ॥ उस मनुष्यका जीवन असार है,
इतना ही नहीं बल्कि धिक्कारका स्थान है, जिसने अपने अमूल्य समयको
व्यर्थ खोकर गुमा दिया है । उस निकम्मे मनुष्यकी अपेक्षा पशुओं
का जीवन अच्छा है कि जिनसे दुनियाके असंख्य काम सुधरते हैं । जीना
बहुत बड़ी चीज है बल्कि जिस जीने जागते मनुष्यने परोपकार करना
नहीं सीखा उसके जानेकी अपेक्षा मरेहुए पशु भी अच्छे हैं कि जिनके
अवयव भी संसारके अनेक काम बनते हैं । शास्त्रसिद्ध बात है कि "देवता"
विषयोंमें मग्न रहते हैं, नरकके नारकियोंको दुःखोंसे फुरसत नहीं, तिर्यंच
भी उपकारको समझते ही नहीं । क्योंकि वह अज्ञानी हैं । सिर्फ उपकारका
अधिकार है तो मनुष्योंको ही है । फिर सोचना चाहिये कि अधिकारीही
अधिकारसे पराङ्मुख रहेगा तो नीचे लिखा हुआ वाक्य क्या झूठा है ?
अधिकारको पाय कर करे न परउपकार ।

ताहुके अधिकारमें रहो न आदि अकार ॥ ॥

॥ समकित के ६७ भेद ॥

[चार सद्दहना]

(१) 'परमार्थ संस्तव '—जीवादि नव पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होना ।

(२) 'परमार्थज्ञातृसेवन'—गीतार्थ साधु मुनिराजकी सेवाभक्ति करना ।

(३) 'व्यापन्नदर्शनवर्जन'—निह्नव, यथाछंद आदि वेशविडंबकोंका परिचय न करना ।

(४) 'कुदर्शनवर्जन'—मिथ्यादृष्टि विपरीत श्रद्धावालेका परिचय न करना ।

[तीन लिङ्ग]

(५) शुश्रूषा—शास्त्रसिद्धान्तके सुननेकी तीव्र इच्छा ।

(६) धर्मराग—धर्मक्रिया प्रशस्त अनुष्ठान करनेमें अत्यन्तप्रीति

(७) वैयावच्च—गुणवान साधु साध्वी श्रावक श्राविका की यथोचित सेवा ।

[१० प्रकारका विनय]

(८) अरिहंत विनय ।

(९) सिद्धविनय ।

(१०) चैत्यविनय ।

(११) श्रुतविनय ।

(१२) धर्मविनय ।

(१३) साधुविनय ।

(१४) आचार्यविनय ।

(१५) उपाध्यायविनय ।

(१६) प्रवचनविनय ।

(१७) दर्शन विनय ।

[तीन शुद्धि]

(१८) मनशुद्धि ।

(१९) वचनशुद्धि ।

(२०) कायाशुद्धि ।

[पांच दोषोंका वर्जन]

(२१) शङ्कादोषका वर्जन ।

(२२) आकांक्षा दोषका वर्जन ।

(२३) उचित साधर्मिका वर्जन।
(२४) परतीर्थिक (धर्मविरोधी) की प्रशंसा न करना।
(२५) परतीर्थिक का परिचय न करना।

[८ प्रभावक],

(२६) समयके अनुसार शास्त्रका पाठी।
(२७) धर्मकथा कहनेमें प्रवीण।
(२८) वादविवादमें जयपताका लेनवाला।
(२९) निमित्त (ज्योति शास्त्र) का पारगामी।
(३०) उत्कृष्ट तपस्याका करनवाला।
(३१) रोहिणी प्रमुख विद्या जिसको सिद्ध हों।
(३२) अंजनचूर्णादिक प्रयोगका जाननवाला।
(३३) काव्य के भेदोंका जाननेवाला श्रीमकवि।

[पांच भूषण]

(३४) क्रियाकौशल्य—धर्मकार्यके करनेमें चतुराई।
(३५) तीर्थसेवा—सत्यपक्षि मनुष्योंका सहवास।
(३६) भक्ति—तीर्थंकरदेव और साधुगणका आदर।
(३७) दृढ़ता—समकितका करनामें स्थिरचित्त।
(३८) प्रभावना—जिन शासनकी शोभाको बढ़ाना।

[पांच लक्षण]

(३९) अपराधी पर भी समभाव रखना।
(४०) [illegible]।
(४१) संसारसे उदास रहना।
(४२) दुखीको देख मनमें दया लानी।
(४३) वीतरागके वचनों पर अटल श्रद्धा रखनी।

[६ प्रकारकी यातना]

अन्य तीर्थ के साधु को उसके माने वचनकामनी नाम्नादिक धारक ... देवके साथ ६ प्रकारका व्यवहार मोक्षके लिये नहीं करना।

(४४) वदना—हाथ जोडने।
(४५) नमस्कार—शिर नमाना
(४६) दान—अन्नादिका देना।
(४७) अनुप्रदान—वारवार देना।
(४८) आलाप—बुलाना।
(४९) सलाप—पुन पुन बुलाना।

[६ आगार]

(५०) राजाका आगार।
(५१) समुदायका आगार।
(५२) बलवानका आगार।
(५३) देवताका आगार।
(५४) गुरुनिग्रह।
(५५) वृत्तिकान्तार।

[६ प्रकारकी भावना]

(५६) समकितको चारित्र मूल समझना।
(५७) समकितको चारित्ररूप प्रासादका द्वार मानना।
(५८) समकितको चारित्रनिधान रखनेका खजाना समझना चाहिये।
(५९) समकितका धर्मप्रासादकी नाव समझना चाहिये।
(६०) समकित आधार है और चारित्र आधेय है।
(६१) समकित चारित्र रसका रखनेका पात्र है।

[६ स्थानक]

(६२) जीव—आत्मा—चैतन्य है ।

(६३) और वह नित्य है ।

(६४) जीव कर्म्मोंका कर्त्ता है ।

(६५) जीव कर्म्मोंका भोक्ता है ।

(६६) निर्वाण—मोक्ष है ।

(६७) और उसका उपाय भी है ।

(७)

सम्यक्त्व एक प्रकार, दो प्रकार, तीन प्रकार, चार प्रकार, और पांच प्रकार होता है ।

एक प्रकार का सम्यक्त्व — वीतराग जिनेश्वर देवके कथन किये तत्त्व पदार्थ पर श्रद्धाका होना एक प्रकारका सम्यक्त्व कहा जाता है ।

दो प्रकार सम्यक्त्व — जैसे मार्ग भूला हुआ कोई आदमी बिनाही किसीके मार्ग बताये किसी स्वयमेव मार्गपर आ जाता है और कोई मार्ग ज्ञाताके मार्ग के बतानेसे मार्गपर हो जाता है।
इसी प्रकार कितनेक जीवोंको स्वाभाविक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, उस सम्यक्त्वको 'नैसर्गिक' सम्यक्त्व कहते हैं और कितनेक जीवोंको गुरु महाराजके उपदेशसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है उस सम्यक्त्वको 'औपदेशिक' सम्यक्त्व कहते है । एवं सम्यक्त्वके दो प्रकार हैं ।

अथवा 'निश्चय सम्यक्त्व' और 'व्यवहार सम्यक्त्व' की अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकारका है । आत्मा का वह परिणाम कि जिसके होनेसे ज्ञानादि मय आत्माकी शुद्ध परिणति होती है उसको 'निश्चयसम्यक्त्व' कहते हैं और कुदेव, कुगुरु, कुमार्गको त्याग कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का स्वीकार करना उसको 'व्यवहारसम्यक्त्व' कहते हैं । अथवा वीतराग

सम्यक्त्व 'निश्चय सम्यक्त्व' और सराग सम्यक्त्व 'व्यवहार सम्यक्त्व ।'

अथवा 'द्रव्यसम्यक्त्व' और 'भावसम्यक्त्व' की अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकार है। जिनेश्वर देवका कहा वचन ही तत्त्व है ऐसी श्रद्धा तो है परन्तु परमार्थ नहीं जानता है, ऐसे प्राणीके सम्यक्त्वको 'द्रव्यसम्यक्त्व' कहते हैं। और परमार्थका जाननेवालेके सम्यक्त्वको 'भावसम्यक्त्व' कहते हैं। अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्गलिक होनेसे द्रव्यसम्यक्त्व है और क्षायिक तथा औपशमिक सम्यक्त्व आत्मपरिणाम होनेसे 'भाव सम्यक्त्व' है।

(३)

तीन प्रकार सम्यक्त्व — १ कारक, २ रोचक, और ३ दीपक, ऐसे तीन प्रकार सम्यक्त्वके होते हैं। देवदर्शन, गुरु वदन, सामायिक प्रतिक्रमण आदि जिनोक्त क्रियाओंके करनेसे जो सम्यक्त्व होवे उसको 'कारक सम्यक्त्व' कहते हैं। इन्हींमें रुचि होनेसे 'रोचक सम्यक्त्व' कहा जाता है। स्वयं मिथ्या दृष्टि होने पर भी दूसरोंको उपदेश आदि द्वारा दीपकवत् प्रकाश करे अर्थात् दूसरे जीवोंको सम्यक्त्वकी प्राप्ति करावे वह 'दीपक सम्यक्त्व' है।

चार प्रकारका सम्यक्त्व — पूर्वोक्त क्षायोपशमिकादि तीनों सम्यक्त्वके साथ सास्वादनको मिलानेसे सम्यक्त्व चार प्रकारका होता है। औपशमिक सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वके ■ मुख हुआ जीव जबतक मिथ्यात्वको नहीं प्राप्त करता तबतक के उसके परिणाम विशेषको सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।

पांच प्रकारका सम्यक्त्व — पूर्वोक्त च[illegible] । [illegible] [illegible] पांच प्रकारका सम्यक्त्व कहा जाता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें वर्तमान जीव अब प्राय सातों प्रकृतियोंको क्षय करके सम्यक्त्व मोहनीयके अंतिम पुद्गलके रसका अनुभव करता

है उस समय के उस के परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। वेदक सम्यक्त्व बाद उसे क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है। वेदक सम्यक्त्वका क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें अंतर्भाव होता है।

उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमें—१ निसर्ग रुचि, २ उपदेश रुचि, ३ आज्ञारुचि, ४ सूत्ररुचि, ५ बीजरुचि, ६ अभिगमरुचि, ७ विस्ताररुचि, ८ क्रियारुचि, ९ संक्षेपरुचि और १० धर्मरुचि के नामसे सम्यक्त्वके दस भेद भी बताये हैं। प्राप्ति करावे उसका दीपकसम्यक्त्व क था दूसरोंको सम्यक्त्व हत " यह दीपक सम्यक्त्व अभव्य जीव साधुपनमें होता है। वसबक्त उसमें माना जाता है।

अथवा १ क्षायोपशमिक, २ औपशमिक और ३ क्षायिक की अपेक्षा तीन प्रकारका सम्यक्त्व माना जाता है।

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय इन सातों कर्म प्रकृतिके क्षयोपशमसे जीवको जो तत्त्वरुचि उत्पन्न होय उसको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इन्हीं सातोंके उपशम होनेसे आत्मामें जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इन्हीं सातोंके क्षय होनेसे आत्मामें जो परिणाम विशेष होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

॥ ज्ञानभक्ति ॥

पठ पठति यतस्वाऽशनादिना लेखय भवे,
स्मर वितर च सारो ज्ञानमतद्धि तत्त्वम्।
श्रुतलवमपि पुत्रे पश्य शश्वमर्वोऽदा—
ज्जगति हि न सुधाया पानतः पेयमन्यत् ॥ १ ॥

(अर्थ) हे भव्यात्माओ! ज्ञानका अभ्यास करो। और पढने पढाने वालोंको अन्नादिसे सहायता दो। न्यायोपार्जित द्रव्यसे ज्ञानके पुस्तक-

लिखाओ, याद करो; साधु, साध्वी, श्रावक,-श्राविका, को ज्ञान दान दो।

यह ही तत्व है, इसी शय्यंभव सूरिजीने अपने पुत्रको स्वल्पमात्र भी ज्ञान देकर निस्तारित किया। संसारमें अमृतसे बढ़कर और कोई अधिक वस्तु है?। १ ॥

[वि वि]—एकत्रा किया हुआ धन साथ आनेवाला नहीं है। इसके पैदा करनेमें, रक्षण करनेमें, खर्चनेमें, अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। धनके नष्ट होजानेमें जो आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है उससे जीव दुर्गतिमें चला जाता है।

ऐसी दशामें मनुष्यको चाहिये कि अनेकानेक कष्टोंसे कमाए हुए पैसेका शुभमार्गमें व्यय करे। व्यय करनेके मार्गोंमेंसे सातमार्ग मुख्य हैं— जिनबिम्ब १ जिन-चैत्य २ ज्ञानोद्धार ३ साधु ४ साध्वी ५ श्रावक ६ श्राविका७ जिनचैत्य-जिनबिम्बका वर्णन पहलेकर दिया गया है।
ज्ञानोद्धारके संबंधमें जानना चाहिये कि—लिखना लिखाना दान, पालन करना अनेकानेक स्थानोंमें फैलाना, लाइब्रेरी करनी, शिक्षाका प्रचार करना; साधु साध्वी श्रावक श्राविका—और मार्गिक मार्गानुसारी जनोंको पठन समान साधन देना, विज्ञान; शासन की शोभाके लिए दार्शनिक ग्रन्थोंका प्रचार करना। उपदेशक तैयार करके अन्यान्य देशोंमें उन्हें भेजकर धर्मका फैलाव करना, यह सब ज्ञानभक्ति कहा जाता है। सब प्रयत्नसे सर्वज्ञभाषित ज्ञानका सर्वत्र प्रसार करके उसको सर्वोत्तम स्थान दिलाना यह उत्तमोत्तम ज्ञानसेवा—ज्ञान महिमा—ज्ञान—पूजा कही जाती है।

विक्रम की बारहवीं से सोलहवीं सदी तक साधुओं में पठन पाठन का प्रचार अल्प हो गया था, परन्तु उसवक्त भी आचार्योंने कायदा कायम कर रखा था कि—साधु प्रतिदिन १०० श्लोक लिखता हो उसीको विनय और शाक देना अन्यथा नहीं।

ज्ञानसागर सूरिजीके मुखसे मांडवगढ के रहनेवाले सुश्रावक सग्राम सिंह सोनी ने बड़ा श्रद्धा भक्तिसे श्री 'भगवती सूत्र' सुना। उस ज्ञानमयी वारवचनोंके अनुरागात जहां जहां 'गोयमा !' पद आता था वहां वहां एक एक अशर्फि रखकर ३६ हजार अशर्फियां खचकर श्रुत भगवती सूत्र का आराधना की। सग्रामसिंह जब जहां एक सोनामोहर रखता था उस वक्त उसकी माता आधी अशर्फि और उनकी पत्नी एक अशर्फि का चतुथ खंड रखती थी। इस प्रकार श्री भगवती सूत्र के श्रुवन में उन्होंने ६३००० सोनामोहरें चढाए उसमें ३७०००हजार मोहर और मिलाकर उस सपूर्ण १ लाख द्रव्यसे 'कल्पसूत्र' 'कालिकाचार्य कथा' नामक ग्रंथ सोनहरी अक्षरोंसे लिखाकर भंडारोंमें रखाए। यह घटना वि स १४५१ में हुई थी। कुमारपाल राजाके स्वर्गवासके बाद जब अजयपालने उत्पात मचाया; तब कुमारपालके धनवाये कार्योंका ध्वंस देखकर आम्रभट्ट ने प्राचीन और नवीन जैन ग्रथोंको १०० ऊंटोंपर लादकर जयसलमेर पहुंचाया।

सुना गया है कि वल्लभी नगरी के भंगके समय ३०००० श्रावक कुटुम्ब और कितनेक धर्माचार्य शास्त्र और जिन-प्रतिमाओंको लेकर मारवाड़ तरफ चल निकले। उन्होंने मारवाड़ मे आकर जोधपुर के जिलेमें जो 'पाली' गाम कहा जाता है उसको आबाद किया, और अपने प्राणोंसे भी प्रिय मानकर शास्त्र और भगवत्प्रतिमाओंकी रक्षा करते रहे। कुमारपाल राजाने कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी के बनाए हुए

(१) अनेकार्थ संग्रह
(२) अनेकार्थ कोष
(३) अभिधानचिन्तामणि
(४) अभिधानचिन्तामणि परिशिष्ट
(५) अलंकार चूडामणि

(६) उणादि सूत्र वृत्ति
(७) उणादि सूत्र विवरण
(८) लिंगानुशासन और वृत्ति

दर्शनम माला

(९) धातु पाठ और उसकी वृत्ति
(१०) धातुपारायण और उसकी वृत्ति
(११) धातुमाला
(१२) निघण्टु
(१३) बलाबल सूत्र वृत्ति
(१४) हेमविभ्रम
(१५) सिद्ध हेम शब्दानुशासन

(बृहद्वृत्ति और लघुवृत्ति)

(१६) रूप समह नाम माला
[१७] रूप समह सारोद्धार
[१८] लिंगानुशासन सटीक
[१९] लिंगानुशासन विवरण
[२०] त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
[२१] परिशिष्ट पर्व
[२२] हेमन्यायार्थ मञ्जूषा
[२३] संस्कृत द्वाश्रय
[२४] प्राकृत द्वाश्रय
[२५] हेमनामानुशासन
[२६] महावीर द्वात्रिंशिका
[२७] वीर द्वात्रिंशिका

[२८] वीतरागस्तोत्र
[२९] पांडवचरित्र

इत्यादि अनेक ग्रंथोंकी अनेक प्रती लिखाकर राजाने भारतवर्षके अनेकानेक गाम नगरोंके ज्ञानभंडारोंमें रखवाइ थी।

इसके अतिरिक्त (११) अंग (१२) उपांग (१०) प्रकीर्णक, (६) छेद, (४) मूल, नंदि, अनुयोगद्वार, इन (४५) ही आगमों की एक एक प्रति सोनहरी अक्षरोंमें, और अन्य मतें स्याहीसे लिखाके भूपतिने खंभात, धोलका, करणावती, चंद्रावती, डुंगरपुर, बीजापुर, प्रल्हादनपुर, राधनपुर, पादलिप्तपुर (पालीताणा) बीणदुर्ग, (जुनागढ) मांडवगढ, चित्तोडगढ, जयसलमेर, वाहडमेर, दमावती, वडोदरा, आबोग, उज्जैण, मथुरा, प्रमुख उत्तम उपयोगी स्थानमें रखवादी थी।

इसके आलावा—कर्णदेव, सिद्धराज, भीमदेव, वीसलदेव, सारंगदेव, वीरधवल सोमसिंह अदिराजाओंने भी उन ज्ञानभंडारोंकी वृद्धिमें पुष्कळ मदद दी है।

और मंत्री उदयन, वाहड, अंबड, वस्तुपाल, तेजपाल, कर्माशाह, समराशाह, ठाकाशाह, मोहनसिंह, साजनसिंह आदि अनेक राजमान्य मंत्रियोंने तो अपनी संपतिका प्राय उपयोग ज्ञान और जिनचैत्योंके अंदर ही किया है। परंतु यह दु खकी बात है कि देश और समाजके दुर्दैवसे कुमारपाल आदि के पुस्तक सैंकडों वर्ष पहले ही नष्ट हो चुके हैं। इसका कारण प्राय प्रसिद्ध ही है कि जो लोग अपने प्राणोंको हाथकी हथेलीमें लेकर सैंकडों वर्षोतक इधरसे उधर और उधरसे इधर मारे मारे फिरे हैं वह इन पुस्तकालयोंका सर्वथा कैसे बचा सकते थे?

कुमारपालके पिछाडे पुस्तकोंका नाश तो उसके उत्तराधिकारी अजयपालने ही कर दिया था इस्वीसन ११७४–७६ में गुजरातके अभयदेव नामक एक शैवराजाने राज्यपर आतेहीं बडी निर्दयतासे जैनोंका

बध कराये, और उनके गुरुओंको भी मरवा डाला ऐसी दशामें वह उनके पुस्तकोंको जिन पर उस धर्मका आधार था कैसे छोड सकता था। [विन्सेंट ए. स्मिथ एम. ए. का भारतका प्राचीन इतिहास ॥]

कुमारपालके बाद बहुत ग्रंथोंका संग्रह वस्तुपाल तेजपालने कराया था जो उसका नाश अलाउद्दीनके अत्याचारोंसे हो गया।

परमश्रद्धालु जैन लोगोंने जो बचा लिये सो आज भी पाटण, खंभात, लींबडी, जयसलमेर, अमदावाद आदि शहरों में हयात है।

[सन १९१६ जनवरीकी सरस्वतीमें 'पाटणके जैन पुस्तकभंडार' इस नामक लेखसे, और अन्यान्य ग्रंथोंसे मालूम होता है कि कुमारपालने २१ बडे बडे ज्ञानभंडार करवाये थे, कुमारपालके किये कराये सब शुभकार्योंके ज्ञान के लिये मेरा लिखा "हिन्दी कुमारपाल चरित" देखिये।]

संघभक्ति

लोकेभ्यो नृपतिस्ततोपि हि वरश्चक्री ततो वासव
सर्वेभ्योऽपि जिनेश्वर समधिको विश्वत्रयीनायक ।
सोऽपि ज्ञानमहोदधि प्रतिदिन संघ नमस्यत्यहो,
वैरस्वामिवदुन्नतिं नयति त य स प्रशास्य भितौ ॥ १ ॥

अर्थ—साधारण तौर पर देखा जाय तो चारही वर्णकी प्रजासे राजा श्रेष्ठ गिना जाता है

राजासे भी सार्वभौम राजा (चक्रवर्ती) बडा है क्योंकि (३२) हजार मंडलीक राजा उसकी सत्तामें है। राजा एक देशका स्वामी है, और चक्रवर्ति नरेश (३२) हजार देशोंका मालिक है। चक्रवर्तिसे इंद्रमहाराज बडे है इस बातमें किसी प्रमाणका आवश्यकता नहीं यह बात सब संप्रदाय प्रसिद्ध है।

और इन समस्त देवाधिदेव तीर्थंकर देव श्रेष्ठ है। तो भी आश्चर्यकी

शान है कि ज्ञानके सागर जिनेश्वर परमा मा मी श्रीसघको नमस्कार करते है। ऐसे श्रीसघको आपत्तिग्रस्त जानकर देखकर जो जीव श्रीवज्रस्वामी की तरह सहायता देता है, वह सदाकाल धन्यवादका पात्र है।

श्री स्थुलभद्र स्वामी का श्रीयक नामक छोटा भाई था, और यक्षा आदिक ■ बहिने थीं। उन सर्व भाई बहिनोंने स्थूलीभद्र स्वामी के पीछे दीक्षा ली हुई थी। श्रीयक साधू तप करने मे कायर था। संवत्सरीके दिन बडी बहिन की प्ररणासे उसने उपवास कर लिया था। दैव योग उसी दिन उसका मृत्यु हो गया। यक्षा को बडा पश्चात्ताप हुआ। उसने निश्चय किया कि मेरे कहने से साधु महाराज ने, शक्तिके न होनेपर भी तपस्या की इसलिये उसके प्राण गये तो ऐसे अनर्थ का पाप माथे आनेपर भी मैं कैसे जी सकती हू? अब मैं भी अनशन करूगी। श्री सघने उसको हरतरहसे रोका परतु उसने अपना सिद्धान्त अटल रखा। आखीर श्री सघने शासन देवीका आराधन किया, शासन देवीने श्रीसघके आदेशसे उस साध्वी को भगवान् श्रीसीमधर स्वामीके समवसरण मे पहुचाया। भगवंदेवन अपने श्री मुखसे फरमाया कि हे यक्षा! तेरा अध्यवसाय साधु को तपस्या कराने का था, उसके मारणे का नहीं। वास्ते तू निर्दोष है। इस बातको सुनकर साध्वीने बडा हर्ष मनाया और श्री सघके किये का-उसगके प्रभावसे शासन देवीने साध्वीको सही सलामत भरत क्षेत्रमें लाके रख दिया।

महाप्राण ध्यानके करते समय स्थूलि भद्र वगैरह साधुओं की वाचना के लिये जब श्रीसघने भद्रबाहुसूरिको बुलाया, तब उन्होने सिर्फ इतनाही जवाब दिया कि, श्रीसघका फरमान शिरोधार्य है, श्रीसघकी आज्ञा मुझ मान्य है, मै जो कुछ कर रहा हु सो श्रीसघकी सेवाके लियही कर रहा हु, इतने पर भी अगर श्रीसघ हुकम करे तो मैं इस कार्य को

छाड कर वहा भी आन को तयार ह । और यदि भगवान श्री सघ साधुओंको यहां मन ता मैं साधुओंको वाचना भी दू और मरा आरम किया हुआ काय जो कि अब समाप्त होने आया है उसका भी पार पहुचाऊं । इस मरी प्राथना पर ध्यान दक पूज्य श्रीसंघ जैसा आदश करेगा मै करनको हरतरहसे तयार हू । सोचना चाहिय कि वीर प्रभु पर भी श्रीसघका कितना मान रखत है । इसके अलावा विष्णु कुमार मुनिको जब मेरु चूलापर समाचार मिला कि तुमको श्रीसघ बुलाता है तो मर चौमासे में अपने ध्यान काय को छोड कर भरत क्षत्र म आये ।

सघ यह समुदाय का वाचक शब्द है, इस जैन पारिभाषिक शब्द से—साधु (१) साध्वी (२) श्रावक (३) श्राविका (४) रूप चातुर वण श्रीसघका ग्रहण होता है ।

साधु साध्वी—' साधु ' यह शब्द ही मनोरजक है, अमरसिंहन जहां अच्छे शुभ सूचक शब्दों का सग्रह किया है वहां लिखा है " सुन्दर–रुचिर–चारु–सुषम साधु–शोभनम् "

शब्दशास्त्र-प्रणताओंन साधु शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि " साधयति स्वपरकार्याणि इति साधु । " ससार व्यवहारमें भी इच्छित आवश्यक साथ वणज करनेवालेको "साहुकार" कहत हैं । यह शब्द मागधी भाषाका है और सस्कृतसे बना हुआ है । मूल सस्कृत शब्द है "साधुकार" अच्छे कामोंका करनेवाला जब कि साधु शब्द ही उत्तम है तो उसका अथ क्यों कनिष्ठ हो सकता है ? जिनप्रवचनमे साधु का सयमी कहकर बुलाया है । सयमीका अथ होता है सयमके धारक–सयमवान, वह सयम १७ प्रकारका होता है । जसे कि पांच आस्रवोंका त्याग, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायोंका त्याग, तीन दडका विरति, इन (१७) वस्तुओंको सयम कहते हैं ।

किंचित् विवरण–हिंसा (१) झूट (२) चोरी (३) अब्रह्म(४) परिग्रह (५) यह पांच आश्रव कहे जाते हैं ।

स्पर्शन (१) रसन (२) घ्राण (३) चक्षु (४) और श्रोत्र (५) ये पांच इंद्रियें कहा जाती हैं । इनके विषयोंसे बचना यह भी संयम है ।

क्रोध (१) मान (२) माया (३) लोभ (४) इस चोकडीको कषाय चतुष्क कहते हैं । इन चार ही कषायोंका त्याग करना यह भी संयम है । मनसे, वचनसे, कायासे, स्वपरका बुरा चिंतन करना उसको दंड कहते हैं । इन तीन ही दंडोंका त्याग सो भी संयम है। पांच आश्रवोंका त्याग (५) पांच इंद्रियोंका निग्रह (१०) चार कषायोंका त्याग (१४) तीन दंडकी विरति रूप (१७) जो धर्म साधुका है, वह ही साध्वीका है। साधु साध्वी की भक्ति (१) उनका बहुमान (२) उनकी श्लाघा(३) उनके उड्डाहका गोपन (४) यह चार प्रकारका विनय कहा जाता है ।

विशुद्ध हृदयसे की हुइ मुनिसेवासे धनसार्थवाहके भवमें और आयाम्नंदके भवमें श्री ऋषभदेव स्वामीने और नयसारके भवमें की हुइ सेवासे श्री महावीर स्वामीके जीवने नयसार के भवमें जो तीर्थंकर पदरूप महावृक्षका बीज उपार्जन किया था, उसमें कारण मुनि सेवाही था ।

ऐसे मुनिमहात्माओंको भोजन, वस्त्र, स्थान, काष्ठासन, औषध, भेषज पुस्तक, वंदना, नमस्कार आदि देनेसे दिलासंग जीव अनंत पुण्य प्राप्त करता है ।

बाहु और सुबाहुके भव मे मुनियोंकी सेवा भक्ति भरत और बाहु-बलीके भवमें जो उत्तम फल श्री ऋषभदेव स्वामीके पुत्रोंका प्राप्त हुआ है वह प्रायः समस्त जैन आस्तिक परिचित हैं ।

हर्षका समय है कि जिन शासनमे चारित्र पात्र मुनिराजोका आज स्वतन्त्रवाद व समयम मा मान है।

परन्तु साथमे इतना अपसास भी है कि " साहूण महा रागं " इस शास्त्रवाक्य को मुलाकर, श्री ठाणाङ्ग सुत्रमें कहे हुए " अम्मा पियसमाण " इस श्रमण अधिकार वाक्यको भी याद न ला कर, श्रा श्रा श्वेतांबर श्रमणोपासक व ज्ञानी हुए भी एक दूसरे साधु के समय पड़कर अपने और अपने मान उन आचार्यादि मुनियों के मान स्थान चारित्रमे वृद्धि के बदले हानि पहुचाते हैं उन गुरुभक्तोंका चाहिये कि—' मरा तरा " इस भावनाका न रखते हुए सिर्फ गुणग्राहक हो बन रहें। शासनमे एक दूसरे का मतभेद होना स्वाभाविक है, परन्तु उस बातका निर्णय करने के बदले पक्षापक्षी के जोशमे आकर शासनमूल विनय गुणका भूल जाना, एक दूसरे के साथ असभ्य अश्लील शब्दोंसे पेश आना, यह तो किसी भी तरहसे शासनकी रीति नीति नहीं कही जा सकती। जिस जिन शासन का लगभग आधा संसार मान देता था जिस के शासनेश वीत रागदेव हैं, उस समुदायकी स्थिति आज अति शोचनीय हो रही है। बिचारे मिथ्या दृष्टि कहलाते वैरागी लोग तो १०—२० एकठे एक जगह बैठकर खायेंगे—पायेंगे, सायेंगे—पीयेंगे, धर्म चर्चा करेंगे परन्तु आज एक पिता के पुत्र कहलाते हुए जैन क्षमाश्रमण एक म्यानमे दो तलवारों के समान एक उपाश्रय मे न रह सकें, एक मडलीमे आहार व्यवहार न कर सकें, एक दूसरे को रास्ते जाते नमस्कार न कर सकें, खेदका समय है हिन्दु के पास मुसलमान आय या रस्ते जाता मिल तो वह भी उसको घर आनेपर पानी पिलाता है, रास्ते जाता ' साहिब सलामत " कह कहकर शिष्टाचार करता है, मगर हमारे जैन साधुओंको उतना शिष्टाचार भी नहीं। इससे बढ़कर शोक और क्या होगा ? ऐसी दशामे माता पिताकी उपमाको धारण करनेवाले श्रावको का फिर भी

यह दिलाना उचित समझा जाता है कि वह शासन प्रेमी शासनालंकार अनद बामदेव के पदपर बैठे हुए श्रेणिक, सम्प्रति, कुमारपाल के स्थानापन्न ऐसा शासन रक्षक महानुभाव श्रावकों को उचित है, उनका धर्म है कि बढ़ते हुए कुसपको—फैल ते हुए आपा पथको रोकनेका यत्न करें।

सुना जाता है कि "श्रीधमघोष सूरि" जीके समयमे १८ श्रावकों को अधिकार था, कि वीर शासनके साधु साध्वी श्रावक श्राविका कहां होवे वहा सब जगह उन (१८) श्रावकों की सत्ता चले, जिस किसी का भी कोई धर्मवाद होय उसकी फिर्याद उनके पास आवे, उनका इन्साफ वह करें। उनके दिये इन्साफ को—उनके किये फैंसले को कोई अन्यथा न कर सके।

हे शासनपति! हे हितवत्सल! हे करुणानिधि! वीर प्रभो! जो शान्तिका साम्राज्य आपने फैलाया था वह आज नामशेष—कथाशेषही रह-गया है उसे फिरसे उज्जीवित करो। आप श्रीजीके भक्तोंके हृदयमंदिरोंमें से जो शमसुंदर रूठा चला जा रहा है उसको फिरसे पीछा लौटाकर आश्रितो को उपकृत करो।

तीर्थोद्धार धुरंधर! आपके स्थापे नन्दनवनको उजड़ते देखके आपके उद्धारक रक्षारूप शासन देव क्यों उपेक्षा कर रहे हैं?।

हम बड़े दुःखके साथ कहना पड़ता है कि प्रभुका मार्ग तो विनय विवेकसे संपन्न है उसमें तो गुणी के गुणकी पहचान है, गुणवानका कदर है। नीचे के एक दृष्टांत से आप इस विषयको खूब तौरपर समझ सकेंगे।

सावत्थी नगरी के नजदीकके किसी स्थानका रहनेवाला 'स्कंदक' नामा तापस मनकी शंकाओंका समाधान करने के लिये श्रमण भगवान् महावीर के पास आया, प्रभु श्री महावीरदेव अपने शिष्य गौतम

का कहते है " गौतम आज तुझे तेरा पूर्व परिचित संबंधी मिलेगा; गौतमने पूछा प्रभु ! वह कौन ? भगवान् कहते हैं 'स्कन्द तापस प्रश्नार्थ पूछनेको आ रहा है, अभी थोडी देरमे यहाँ आ पहुंचेगा !"

गौतम स्वामी प्रभुसे पूछकर उसका सत्कार करने के लिये सामने जाते हैं । स्कंदक को वह प्रेमसे मिलते हैं, आदरपूर्वक उसका प्रभुके पास लाते हैं, स्कंदक प्रभुके पास आकर अपनी शंकाओंको पूछता है । यहाँ साफ लिखा है कि " स्कंदकका पास आए जानकर गौतम स्वामी फौरन अपने आसन को छोडकर खडे हुए, स्कन्द के सामने गए, और बडे आनंदसे उसका स्वागत करते है "

[भगवती सूत्र शतक दूसरा, उद्देशा पहला.]

चार ज्ञानके धारक १४००० साधुओं के स्वामी गौतम गणधर एक तापस को आता देख उसके सामने जावे, उसका आदर सत्कार करें, तेहिले शब्दोंम उसको स्वागत पूछे; यह शब्द क्या कहते हैं ? । इस प्र करणसे यह एक उत्तम शिक्षा मिलती है कि " मनुष्यमात्रसे भ्रातृभाव रखो उनको ज्यों बने त्यों धर्मके अभिमुख करो परंतु पराङ्मुख न करो, "तू तू " करने से पशुजाति कुत्ता भी पूछडा हिलाता हिलाता आके पा ओंमे गिरता है परंतु " दुर दुर " करने से दूर चला जाता है, तो मनुष्य अपमानको कैसे सहन कर सकता है ? इस लिये जीव मात्रसे उस में भी विशेष कर समानधर्मीसे सहानुभूति ही रखना चाहिये ।

श्रावक—श्राविका

जैन सम्प्रदायके अनेक शास्त्रों मे " श्रावक " शब्दकी यह ही व्याख्या की है कि—जो जीवादि नव तत्वोंका, जाननेवाला हो न्यायोपार्जित धनको सात क्षेत्रोंमे खर्चनेवाला हो, कर्मदलिकों को आत्मासे जुदा करनेवाला हो, उसको ' श्रावक ' कहते हैं । इसी ग्रंथके किसी एक प्रकरणमें

श्रावक के पांच नियमोंका वर्णन हो चुका है। उसके उत्तरभूत ३ अनुव्रत, और ४ शिक्षाव्रत मिलानेसे १२ व्रत होते हैं, जो श्रावक का सर्वस्व है। इन बारा व्रतोंका सविस्तर स्वरूप उपदेश प्रासाद, जैनतत्वादर्श, गुणस्थानक्रमारोह हिन्दी, श्रावक-कल्पद्रुम, आदि ग्रंथोंसे जाना जा सकता है। अब यहां एक बात और भी ध्यानमें रखने जैसी है कि-सुपात्र पोषणका संसारमें बडा प्रभाव वर्णित है। साधु साध्वीको उत्तम पात्र गिना है तो श्रावकको भी मध्यम पात्र तो गिना ही है।

॥ श्रावकके २१ गुण ॥

१ गंभीर होवे, परंतु क्षुद्र न होवे।
२ सर्व अंग संपूर्ण होवे।
३ शांत प्रकृतिवाला होवे।
४ लोकप्रिय होवे।
५ सरलपरिणामी होवे। क्लेशी न होवे।
६ इसलोक पर लोकके भयसे डरनेवाला होवे।
७ अशठ होवे, परको ठगनेवाला न होवे।
८ शान्ति स्वभाववाला होवे, परकी प्रार्थनाका भंग न करे।
९ लज्जावंत होवे, निर्लज्ज न होवे।
१० दयालु होवे दीन दुखीपर दया करे।
११ मध्यस्थ भाववाला होवे, पक्षपाती न होवे।
१२ गुणी जीवपर राग करनेवाला होवे।
१३ सत्यधर्म कथाका कहनेवाला होवे।
१४ सुशील-धर्मी परिवारवाला होवे।
१५ दीर्घदर्शी लम्बा विचार करनेवाला होवे।
१६ पक्षपातरहित होवे।

३६० समान धर्मि मनुष्यों को व्यापार में लगाकर अपने समान कोटि ध्वज बनाया था ! ! ! वाहरे जगसिंह तेरे होने को धन्य है। तेरे जन्म और जीवितको पुन पुन धन्य है ! धन्य है तेरे माता पिता को !

(३) पाटण मे कुमारपाल के समयमे आभड शाह नामक प्रसिद्ध शाहुकार रहता था उसने एक क्रोड आठ लाख रुपया खर्च कर जिन शासनकी शोभा मे वृद्धिका थी। उसने उसमोटा रकमका अधिकांश सीदाते समान धर्मियो के उपकार में ही व्यय किया था। उस वक्त अभयकुमार जैसे और भी अनेक एसे धर्मी मनुष्य पाटण मे वसते थे।

(४) माढवगढ मे जब जैन लोगाकी भरपूर वस्ति थी उस वक्त वहा एक ऐसा रिवाज था कि जो कोइ समान धर्मी गरीब हालत मे वहा आता उसे प्रतिघर से एक एक अशर्फि और एक एक लकडी घर बनाने के लिये दी जाती। इस से वह एकही दिनमे दरिद्र को तिलांजली दे कर लखाधिपति शाहुकार बन जाता था। विक्रम सवत् १२८३ मे नागपुर से श्री सिद्धाचलजीका सघ आया था। वस्तुपाल तेजपालने उनको बड आदरसे अपने नगर मे बुलाया और भोजनादि से उनके सर्व सघ लोगो की भक्तिसेवा की। इतनाही नहि बल्कि उन सर्व मनुष्यों को उच्च आसन पर बैठाकर मत्रीराजने अपने हाथसे सब के पैर धोये।

" वस्तुपाल वस्तुपाल स स्तुत्य सव साधुषु " यह वाक्य सर्वथा सत्य है—सर्वथा यथार्थ है, इस मे अंश मात्र भी अनृत नहीं।

अब सोचना चाहिये कि हमारे नैत्यक और नैमित्तिक सब कार्यों मे हमको यह ही शिक्षा दी जाती है कि " महाजनो येन गत स पथा " इस सोनहरी वाक्य को पुन पुन जिह्वासे उच्चारते हुए भी—वारवार

ानों से सुनते हुए भी अगर उसपर कुछ भी ख्याल न दें, कुछ भी परि शीलन न करें, तो भला हमने किया ही क्या ? समझा ही क्या ?

: श्रावक समय मे सातहा क्षेत्रोंमे से चैत्य १ बिम्ब २साधु ३साध्वी४ यह ४ क्षेत्र समयानुसार पुष्ट है । सिर्फ घाटा है तो ज्ञान क्षेत्र, श्रावक श्राविका क्षेत्र इन तीनही क्षेत्रों की सार सम्भालका है ।

ज्ञानक पुस्तकों का घाटा नहीं परन्तु उनका फैलाव करनेवाले जैसे चाहिये वैसे थोड हैं ।

ज्ञान पढानेकी संस्थाएँ हैं परन्तु उनमे क्या पढाया जाता है ? जो पढाया जाता है वह बच्चोंकी जिन्दगी को सुधारता है या बरबाद करता है ? इन बातोंका निरीक्षण सूक्ष्म दृष्टिसे करने योग्य है ।

उसमे भी खास करके वर्तमान समय की स्थिति तर्फ देखकर श्री संघको चाहिये कि वह " श्रावक और श्राविका " इन दोनो क्षेत्रोंको बचावे । लाखों मनुष्य मूल के मोर जैनधर्मका परित्याग कर क्रिश्चियन होते जा रहे हैं । हजारों मनुष्य आर्य समाज हो रहे हैं । ऐसी दशामे हमारे समुदायमे गरीबोंके उद्धार का साधन नहीं । गरीबोंकी फर्याद का सुनने वाला कोई नहीं । उनको पेटभरके खानेको अन्न नहीं । पहननेको वस्त्र नहीं, रहने का मकान नहीं ।

एक लाख जितनी पारसी कोम अपना कैसा उपकार कर रही है ? मुसलमान लोग किस तरह आपसमे मिल कर काम कर रहे हैं ? संसारमे किस वस्तु की कदर है ? इन बातोंका परामर्श जहांतक नहीं किया जाता वहांतक समाजका दरिद्र दूर होना असंभव है ।

शरीरका जो अंग बिगडा होता है उसीका सुधारा करना उचित है । बिगडते सडते अंगका सुधारा हो जानेसे सारा शरीर बच सकता है।

इस लिये हमारा श्रीसंघसे अन्तमें यही विनती है कि [illegible] मरह
धर्म और जैन समाजका पूर्व ही की तरह फिर भी अभ्युदय हो।
महात्मा महावीर देवके जगत कल्याण कर जीवन और वचनसे जगत्
उद्धार हो ऐसा काम कर अपना और जगतका कल्याण करनेमें क
बद्ध होवें।

॥ तथास्तु ॥